!! ओ३म् !!

श्रद्धा पुष्पमाला का ६६वाँ पुष्प

वेदाध्ययन के सोपान

[वेद विषयक उच्च कोटि के आलोचात्मक निवन्धों का संग्रह]

लेखक

डॉ० भवानीलाल भारतीय

एम० ए०, पी० एच० डी०

प्रकाशक

आर्य कुमार सभा किंग्ज़वे [रजि०]

दिल्ली-११०००९

[ऋषिबोध उत्सव २०३० वि० मार्च १९७४ ई०]

प्रथम बार : २२०० मूल्य : १.२५ रु०

विषयानुक्रमणिका

830

✳ ✳ ✳ ✳

समर्पण

लेखक को आर्य समाज की प्रथम प्रेरणा देने वाले दानमल जी सिंघवी परबतसर (जिला नागौर) निवासी की पुनीत सेवा में सादर।

---भवानीलाल भारतीय

✳ ✳ ✳ ✳

ऋषि दयानन्द की वेदार्थ शैली

ऋषि दयानन्द वर्तमान युग के सबसे बड़े वेदाचार्य हैं, सबको विदित ही है कि उन्होंने वेदों को ही अपने धर्मान्दोलन का आधार बनाया था, मन्वादि धर्म शास्त्रकारों ने वेदों को ही धर्म का मूल स्वीकार किया है, अतः भारत में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक धर्माचार्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व ईश्वरीय ज्ञान वेद के प्रति अपनी निश्चयात्मक धारणा व्यक्त करें बौद्धमत के भारत से शीघ्र ही निष्कासित हो जाने के अनेक कारणों में से एक यह भी है कि इस मत के अनुयायियों ने वेद प्रमाण को स्वीकार करना तो दूर इसकी अवहेलना करने में ही अपनी शक्ति को केन्द्रित कर दिया था, बौद्धमत के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य चन्द्रकीर्ति की निम्न युक्ति प्रसिद्ध है।

वेदप्रामाण्यं कस्यचितकर्तृवादः ।
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादापलेपः ।
संतापरम्भः पापहानाय चेति ।
ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिगानि जाड्ये ।

अर्थात् वेद प्रमाण आदि पाँच बातों को मूर्ख लोग ही मानते हैं इसके विपरीत ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान करने वाले आचार्य शंकर ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त को वेद प्रमाणवाद की दृढ़ आधारशिला पर ही स्थापित करने का यत्न किया था। आपने वेदान्त भाष्य में "शास्त्रयोनित्वात्" १-१-३ सूत्र पर लिखा है "अहत ऋग्वेदादिः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानो, प्रबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।" अर्थात् सर्व विद्यामय ऋग्वेद आदि का सर्वत्र परमात्मा के बिना कोई कारण नहीं हो सकता यद्यपि शंकर की गति मुख्यतः उपनिषदों तक ही थी। और उन्होंने उपनिषद वाक्यों को ही "श्रुति," के नाम से उद्धृत किया है, परन्तु फिर भी वेद के प्रति अपूर्व निष्ठा होने के कारण ही उनका मत भारतवर्ष में लोकप्रिय हो सका। यही बात हम रामानुज

मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि अन्य आचार्यों के विषय में कह सकते है। प्राकृत वेद से अनभिज्ञ होते हुए भी अपौरुषेय वेद के प्रति उनकी श्रद्धा कम नहीं थी।

धर्मान्दोलन के इतिहास में एक युग ऐसा भी आया था जबकि सन्त कहलाने वाले कबीर, दादू, रैदास आदि शास्त्रानभिज्ञ लोगों ने शास्त्रों, विद्वानों तथा पंडितों के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया था, परन्तु उसके मनोवैज्ञानिक कारण भी थे। तथाकथित निम्नकुलों में उत्पन्न होने के कारण वे शास्त्रों के अधिकारी नहीं माने गये और पठित वर्ग के लोगों ने उनकी उपेक्षा ही की। इसका परिणाम यह हुआ कि इन संतों की लेखनी से कहीं-कहीं शास्त्रों के लिए अपमान सूचक शब्द निकले, परन्तु शास्त्रों की सत्यता को इन्होंने कभी अस्वीकार नहीं किया, कबीर के शब्दों में वेद झूठा नहीं है, झूठा वह है जो उस पर विचार नहीं करता। अस्तु

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी भारतवर्ष के लिए धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का आशाप्रद सन्देश लेकर आई। बंगाल ने ब्रह्मसमाज के आन्दोलन को जन्म दिया और पंजाब तथा उत्तर भारत के अन्य प्रान्तों में आर्यसमाज ने नवयुग का शंख फूंका। ब्रह्ममत प्रवर्तक राजा राममोहन राय वेदों के प्रति सम्पूर्णतया आस्थावान् थे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—

"A commonly received rule for ascertaining the authority of any book is this, that whatever book opposes the Vedas, is destitute of authority."

The Brahmanical Magazine No. 2.

अर्थात् किसी ग्रन्थ के प्रमाण का निश्चय करने के लिए सर्वसाधारण नियम यह है कि जो ग्रन्थ वेद के विरुद्ध है वह अप्रामाणिक है, सिद्ध हुआ कि ब्रह्मसमाज के संस्थापक की दृष्टि में वेद स्वत: प्रमाण है और उनके अनुकूल होने पर ही अन्य ग्रन्थों को प्रामाणिक माना जा सकता है। यदि राममोहन राय का यही सिद्धान्त ब्रह्मधर्म के पश्चातवर्ती नेताओं को भी मान्य होता और उन्होंने अपने मत में विदेशी ईसाई सिद्धान्तों का प्रवेश नहीं कराया होता तो ब्रह्मसमाज के संगठनात्मक रूप को धक्का नहीं पहुँचता और वह भारतीय जनता को अधिक उपयोगी भी सिद्ध होता। रामकृष्ण, विवेकानन्द और अरविन्द आदि आधुनिकतम विचारकों की प्रतिष्ठा का कारण भी उनका शास्त्रों के प्रति परम्परा-युक्त आदरभाव ही है।

प्रस्तुत निबन्ध में हमें ऋषि दयानन्द की वेदार्थ शैली पर विचार करना है दयानन्द ने सम्पूर्ण यजुर्वेद और ऋग्वेद के सप्तम मंडल के कुछ अंश तक अपना भाष्य किया है। वेद सम्बन्धी अपने विचारों को उन्होंने अपनी "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" नामक पुस्तक में विस्तारपूर्वक लिखा है। इसका आधार मुख्यत: ब्राह्मण और निरुक्त आदि ग्रन्थ हैं, भूमिका में वे लिखते हैं और जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद, वेदांग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है क्योंकि वे जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं इनको प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है, यही इसमें अपूर्वता है पृष्ठ ४-१० आर्य साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित द्वितीयावृत्ति सं० १९९४ वि···कहने को तो सायण आदि मध्यकालीन भाष्य में ली है, परन्तु उनकी और दयानन्द की विचार सारिणी में मौलिक अन्तर है सायण परम्परा के अनन्य भक्त थे, इसलिए उनके भाष्य में वे सभी दोष आ गये हैं जो एकांगी दृष्टि से विचार करने वाले व्यक्ति के विचारों में आते हैं। दयानन्द "बुद्धिपूर्वाक्य कृतिर्वेदे" अर्थात वेदों की रचना बुद्धिपूर्वक हुई है इस सिद्धान्त को मानने वाला था, फलत: उनके अर्थों में एक अपूर्वता आ गयी है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

वेद के वास्तविक तत्वज्ञान का उद्घाटन करना साधारण मानव के लिए सम्भव नहीं है, निरुक्त में ऋषि को "मंत्र द्रष्टा" कहा है, धर्म का साक्षात्कार करने वाले ही ऋषि होते हैं। दयानन्द ऐसे ही ऋषि थे। उनकी जीवनी में हम पढ़ते हैं कि किसी मंत्र का अर्थ स्पष्ट न होने पर वे तत्काल अपने लेखन कार्य को बन्द कर एक कोठरी में जाकर समाधिस्थ हो जाते थे और समाधि की समाप्ति के तुरन्त पश्चात् ही वे उस गूढ़ मंत्र का अर्थ विशद्ध रूप से लिखवाने में समर्थ हो जाते थे। यह इस बात का प्रमाण है कि ऋषि दयानन्द का वेद भाष्य शत प्रतिशत प्रामाणिक है।

ऋषि ने वेदार्थ की जिस प्रणाली को मान्यता दी है, नैरुक्त प्रणाली या यौगिक प्रक्रिया कहते हैं। आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में इसी का प्रतिपादन किया। यह अवश्य है कि उस काल में भी वेदार्थ की विविध परिपाटियाँ प्रचलित थीं अब तक निम्न ९ प्रकार की वेदार्थ प्रणालियों का पता लगा है।

[१] आधिदैवत [२] आध्यात्मिक [३] आख्यान समय [४] ऐतिहासिक [५] नैदान [६] नैरुक्त [७] परिव्राजक [८] पूर्व याज्ञिक [९] याज्ञिक परन्तु इसमें नैरुक्त ऐतिहासिक और याज्ञिक ये तीन ही मुख्य हैं। सायण

याज्ञिक पद्धति का अनुयायी है और आधुनिक योरुपीय तथा भारतीय विद्वानों ने ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया है। ऐतिहासिक और नैरुक्त प्रणाली का भेद यास्क ने एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया। 'तत्को वृत: ? मेघ इति नैरुक्त: त्वाष्टोसुर इत्यैतिहासिका: अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभाव मर्मणो वर्ष कर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा: भवन्ति' अर्थात् यह व्रत कौन है ? निरुक्तकार कहते हैं कि यह मेघ है और ऐतिहासिक कहते हैं कि त्ताष्ट्र असुर का नाम वृत है, जल और तेज के मेले से वृष्टि होती है, उसी का उपमा रूप से वर्णन किया है, यौगिक प्रक्रिया का अभिप्राय यह है कि शब्दों का लोक प्रचलित अर्थ न होकर धात्वर्थ को प्रधानता देनी चाहिए। इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए ऋषि दयानन्द ने अग्नि के ईश्वर, राजा, सेनापति और भौतिक आग आदि अर्थ किये थे। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के प्रारम्भिक मंत्रों का भाष्य जब ऋषि ने सरकार की सेवा में भेजा तो सरकार ने उसे तत्कालीन काशी संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल ग्रिफिथ, पंजाब यूनीवर्सिटी के पं० गुरुप्रसाद शास्त्री और कलकत्ता के पं० महेशचन्द न्यायरत्न आदि संस्कृतज्ञ विद्वानों के पास सम्मत्यर्थ भेजा, निरुक्त प्रक्रिया से अनभिज्ञ इन विद्वानों को महर्षि का यह वेदार्थ अटपटा प्रतीत हुआ और उन्होंने उसके विरुद्ध सम्मति दी। इस पर महर्षि ने "भ्रान्ति निवारण" नामक पुस्तक के द्वारा अपने पक्ष को स्पष्ट किया और युक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध किया कि उन्होंने अग्नि के जो विविध अर्थ किये हैं वे सर्वथा शुद्ध और संगत हैं।

महर्षि दयानन्द की सम्मति में वेद लौकिक इतिहास से शून्य हैं और सृष्टि के प्रारम्भकाल की रचना होने के कारण उसमें मनुष्यों, जातियों तथा ऐतिहासिक और भौगोलिक इतिवृत्त ढूंढ़ना मूर्खता हैं। हाँ, यह आवश्यक है कि लोक प्रचलित नामों और वेद में प्रयुक्त नामों में समानता अवश्य है परन्तु इसका कारण यह नहीं कि वेद में उन-उन व्यक्तियों का वर्णन है। इसकी संगति इस प्रकार से लगानी चाहिए कि वेद में प्रयुक्त होने वाली सामान्य संज्ञाओं को लोक में स्वीकार कर लिया गया अर्थात नामकरण की प्रथा भी वेद से ली गई है, इसमें निम्नप्रमाण द्रष्टव्य है।

मनु लिखते हैं:—सर्वेषा तु स नामानि कर्माणि च पृथक-पृथक, वेदं शब्देभ्य: ऐवादौ पृथक सस्थाश्चनिर्ममे।

मीमांसा के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य कुमारिल भट्ट ने तंत्र वार्तिक में

लिखा है ।

'वेदएव हि सर्वेषामादर्श: स्थित: ।
शब्दानां तत उद्धृत्त्र प्रयोग: संभविष्यति,
ऋषीणां नामधेयानि, याश्च वेदेषु सृष्टभ:,
नानारूप च भूतानां । कर्मणा च प्रवर्तनम ।२५।
वेद शब्देभ्या एवादौ । निर्मिभाते स ईश्वर:,
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभया विदधात्य: ।२६।
शान्त पर्व अ० २३२

यहाँ तक कि विष्णु पुराण में भी इस मत का समर्थन मिलता है ।

नाम रूपं च भूताना, कृत्यानां च प्रपंचनम्,
वेद शब्देभय: ऐवादौ, देवादीनां चकारस: ।५६४।

वेद में इतिहास प्रतीत होने वाली घटनाओं की संगति अलंकार विधान और रूपक योजना की सहायता से बड़ी सरलता से लगाई जा सकती है । स्वामी दयानन्द के पश्चात् इतिहासवाद का प्रत्याख्यान करने में स्व० पं० शिवशंकर शर्मा, पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, स्वामी ब्रह्ममुनि तथा जयदेव शर्मा विद्यालंकार आदि विद्वानों ने पर्याप्त परिश्रम किया है । इन विद्वानों के प्रयत्नों से वेद पर भौतिक इतिहास का आरोपण करने वाले लोग त्रस्त हुए हैं, यह निर्विवाद है ।

महर्षि दयानन्द याज्ञिक अर्थ करने के सिद्धान्त के आपतत: विरोधी नहीं थे, परन्तु वे यह भी मानने के लिए कदापि तैयार नहीं थे कि मन्त्रों की रचना का एकमात्र उद्देश्य यज्ञ कर्म की पूर्ति ही है । वेदों के मन्त्रों में परमात्मा ने जो अत्युच्च उदात्त और सार्वभौम शिक्षाएँ मानव मात्र के लिए दी हैं उनके गौरव को कम करना और मंत्रों को कर्म काण्ड की जटिलता का सहायक सिद्ध करना दयानन्द के मत के प्रतिकूल था । इसीलिए उन्होंने मंत्रों के विवध अर्थों पर जोर दिया, आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से वेदों का अर्थ प्राचीन स्कन्द स्वामी आदि आचार्यों ने भी किया । यही दयानन्द को अभीष्ट था । सायण के यज्ञवाद को प्रधानता देने के कारण कहीं-कहीं उसके अर्थ अन्तत: हास्यास्पद हो गये हैं । मंत्र संहिता को केवल कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाला और उपनिषदों को ब्रह्मज्ञान की व्याख्या करने वाला ग्रन्थ मानने के कारण ही सायण से यह सम्भव हो सका कि वह यह कहने का साहस कर सकें "तस्मिश्च वेदे दौ काण्डो कर्मकाण्डो-ब्रह्म काण्डश्च बृहदारण्यकाख्या ग्रंथो

ब्रह्मकाण्डस्तद् व्यतिरिक्तं शतपथ ब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोः कर्मकाण्ड त्वम् तत्राभयत्राधानाग्निहोत्र दर्शपूर्ण मासादिकर्मण ऐव प्रतिपाद्यत्वात् कांड संहिता भाष्यभूमिका"। इस युक्ति से स्पष्ट है कि सायणाचार्य केवल वृहदारण्यक मात्र को ब्रह्मकाण्ड मानते हैं और ब्राह्मण के साथ-साथ सारी संहिता को भी वह आदर्श पूर्णमासादि यज्ञ मात्र का ही प्रतिपादक बता रहे हैं। याज्ञिक पद्धति की संकीर्णता का दिग्दर्शन कराते हुए काशी विद्वत्मण्डल के अध्यक्ष श्री पं० गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी का यह वक्तव्य उचित ही है कि "वेदार्थ इतना संकुचित हो गया है कि 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इस श्रुति का अर्थ सायणाचार्य के कथनानुसार हमारे सनातन धर्म के वैदिक विद्वान करते हैं कि "विश्वम् सोमम् अस्मदीयकार्यथिम् आर्य मद्रं कृण्वन्तः कुर्वन्त:" सोमलता को हमारे यज्ञकर्म के लिए उत्तम करते हुए आदि सार्वदेशिक फरवरी १६५३ पृ० ५२१ इस विवेचन से स्पष्ट है कि सायण के अनुसार केवल याज्ञिक अर्थ करना वेद के मौलिक अर्थ के विपरीत है।

सायण के इसी एकांगी दृष्टिकोण के विषय में सुप्रसिद्ध योगी अरविन्द घोष लिखते हैं—"सायण की प्रणाली की केन्द्रीय त्रुटि यह है कि वह सदा कर्मकाण्ड विधि में ही ग्रस्त रहता है और निरन्तर वेद के आशय को बलपूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित सांचे में ढालकर वैसा ही रूप देने का यत्न करता है। इसलिए वह उन बहुत से मूल सूत्रों को खो देता है जो इस पुरातन धर्म पुस्तक के बाह्य अर्थ के लिए जो कि बिल्कुल वैसा ही रोचक प्रश्न है जैसा कि इसका आन्तरिक अर्थ बहुत बड़े निर्देश दे सकते हैं और बहुत ही महत्व के हैं।" वेद रहस्य।

ऋषि दयानन्द की यह धारणा थी कि वेदों में एक ही ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है। योगी अरविन्द ने उनके विचारों का समर्थन करते हुए लिखा है "वेदों की ऋचाओं में एक ही परम् देवता के अनेक नामों द्वारा गीत गाये गये—जो उस परम देव के अनेक गुणों व शक्तियों के प्रदर्शन के अभिप्राय से प्रयुक्त किये हैं। क्या दयानन्द ने अपना पांडित्यपूर्ण स्वच्छन्द कल्पना से इसका प्रयोग किया? कदापि नहीं। यह तो स्वयं वेदों का स्पष्ट वचन है" "उस एक ही संत को साधुजन [यह ध्यान देने योग्य है, अज्ञानी नहीं बल्कि क्रान्तदर्शी ऋषि लोग] बहुत तरह से पुकारते हैं—ऋषिगण उसी को इन्द्र, यम, मातरिश्वा, अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं" स्वामी दयानन्द और वेद पृ० २२।

ऋषि दयानन्द का वेदार्थ एक और विशेषता रखता है—दयानन्द का यह कथन था कि वेद विज्ञान के समस्त सिद्धान्त मूलरूप में उपलब्ध हैं। अपने इस मन्तव्य को सप्रमाण सिद्ध करने का प्रयास स्वामी जी ने अपनी 'वेदभाष्य भूमिका' में किया है परन्तु सायण पक्षपाती विद्वान उनके इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। सायण की भाष्य शैली के प्रबल पक्ष पोषक काशी विश्वविद्यालय में संस्कृत अध्यापक पं० बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य ऋषि के विज्ञान मूलक वेदार्थ पर आक्षेप करते हुए लिखते हैं "स्वामी जी के अनुयायी वैदिक पंडितों की सम्मति में वेदों में विज्ञान के द्वारा आविष्कृत समस्त पदार्थ [रेल, तार, वायुयान आदि] की सत्ता बतलाई जाती है। तब की वेद महिमा इसी में है कि विज्ञान की समस्त वस्तुओं का वर्णन उसमें उपलब्ध हो।

वेद आध्यात्मिक ज्ञान की निधि है। भौतिक विज्ञान की वस्तुओं का वर्णन करना उनका वास्तविक उद्देश्य नहीं है। ऐसी दशा में यौगिक प्रक्रिया के अनुसार इन चीजों को वेदों के भीतर बतलाना उचित नहीं जान पड़ता।

इस प्रकार स्वामी जी की पद्धति को हम सर्वांश में स्वीकृत नहीं कर सकते" [आचार्य सायण और माधव पृ० १२३ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित २००३ वि०] एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं—"कैरपि समाज विशेषानुरागमादधानै-र्वेदाना विधीयतेऽध्ययन सह परिश्रमेण परन्तु···मन्त्रोच्चारणं कुर्वन्तः सततं कदर्थयन्ति। अपरञ्चामी वेदेषु नवीनामपि आधुनिकैः पाश्चात्य विज्ञानवेदिभिः प्राकाश्य नीता नामाविष्काराणां धूम्रयान, वायुयान तडिच्चक्रट स्वनग्राहादानां नैव कल्पिता सभावनामपितु वास्तविकीं सत्तां वेदे मन्यत। सर्वेषामाविष्कृतानामावष्करिष्यमाणानां च वित्रान्तत्वानामाकरो वेदेऽत्रोद तेषामभिमत मतामवलाक्यत······परन्तु अयंपि सिद्धान्तो नेव विद्वज्जन मनोरमः" [वेदभाष्य भूमिका संग्रह प्रस्तावना पृ० २० चौखम्भा संस्कृत सीरिज, काशी सन् १९३०] अर्थात् समाज विशेष से प्रेम रखने वाले [आर्यसमाजियों से तात्पर्य है ले०] लोग भी वेद पढ़ते हैं परन्तु उनका उच्चारण ठीक नहीं। वे आधुनिक पाश्चात्य विद्वान धूम्रयान [रेलगाड़ी] वायुयान बिजली से चलने वाली गाड़ी, तार आदि की वेदों में कल्पना करते हैं परन्तु यह सिद्धान्त विद्वानों को पसन्द नहीं।

यहाँ पूर्व पक्ष को किंचित विस्तारपूर्वक लिख दिया गया है, जिससे पाठकों को आक्षेपकर्ताओं के विचारों का ज्ञान हो जाय। इसका उत्तर कठिन नहीं है।

स्वयं सायण ने भी अथर्ववेद भाष्य भूमिका में कौशिक सूत्रों के आधार पर सिद्ध किया है कि अथर्ववेद के मंत्रों में अनेकानेक लौकिक विषयों का समावेश है। बलदेव उपाध्याय कोटि के ही एक अन्य विद्वान पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी ने वेदों में विमान आदि आविष्कारों को स्वीकार किया है। [देखिए, 'वैदिक साहित्य' का २८वाँ अध्याय वेद और विमान, भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण १९५० ई०] इसी प्रकार अमरीकन महिला ह्वीलर चिल्लाक्स ने अपने Sublimity of the Vedas नामक ग्रन्थ में तथा जैकालियट ने अपने 'The Bible in India' नामक ग्रन्थ में भी वेदों में विज्ञान के सिद्धान्तों को स्वीकार किया। निबन्ध की कलेवर वृद्धि की आशंका से इन विद्वानों के उद्धरण न देकर हम यही निवेदन करना चाहते हैं कि सत्यव्रत समाश्रमी और अरविन्द घोष जैसे एतद्देशीय विद्वानों की भी सम्मति में वेदों में विज्ञान के सिद्धान्त का समावेश है। अरविन्द ने तो यहाँ तक लिख दिया है—

'There is nothing fantastic in Dayanand's idea that the Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that the Veda contains other truths of science, the modern world does not at all possess, and in that case Dayanand has rather understated than overstated the depth and range of the Vedic wisdom.'

अर्थात स्वा॰ .यानन्द के इस विचार में कि वेद में न केवल धर्म के ज्ञा सत्य का भी मूर. है, कुछ भी कल्पित बात नहीं है। मेरा अपना तो यह विश्वास है कि वेद में एक ऐसे विज्ञान की सत्यता का प्रतिपादन है जिससे वर्तमान जगत सर्वथा अनभिज्ञ है और उस अवस्था में स्वामी दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता जताने में न्यूनोक्ति ही की है, अत्युक्ति नहीं। अतः ऋषि के विज्ञान मूलक वेदार्थ के प्रति कोई शंका होना अनुचित है।

ऋषि दयानन्द ने एक ओर जहाँ ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार किया, वहाँ उसका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक आर्य का कर्तव्य भी बताया। वेद के अधिकारी का निर्णय करते समय उन्होंने उन मध्यकालीन आचार्यों, जैसी संकुचित मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया जिन्होंने वेदान्त दर्शन के 'अपशूद्राधिकरण' की व्याख्या के प्रसंग में घोर संकीर्णता का परिचय दिया है और

वेदपाठ, श्रवण और चिन्तन करने वाले शूद्र के लिए पाशविक दण्ड का विधान किया है। दयानन्द जैसी उदारता अन्य किसी आचार्य में दृष्टिगोचर नहीं होती। 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' मन्त्र द्वारा ऋषि ने मानव मात्र को वेद का अधिकारी सिद्ध किया। अतः आने वाली संतति उन्हें मानव समाज का 'परम हिताकांक्षी स्वीकार करेगी, इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

यहाँ हमने ऋषि दयानन्द की वेदार्थ पद्धति का अल्प-सा वर्णन किया है। ऋषि दयानन्द का वेदार्थ वेदों पर किये जाने वाले उन सब आक्षेपों का भी परिमार्जन कर देता है जो पाश्चात्य विद्वानों द्वारा समय-समय पर किये जाते रहे हैं। मैक्समूलर, विल्सन, ग्रिफिथ आदि ने वेदों में अश्लील व बर्बर प्रथायें, जादू टोना, अस्पृश्यता आदि का अस्तित्व बताया था। सायण आदि मध्ययुगीन भाष्यकारों तथा महीधर जैसे वाममार्गी तांत्रिक टीकाकारों ने वेदार्थ की परम्परा को दूषित करने में कोई कसर नहीं रखी थी। वेदों में पशुवध की आज्ञा है यह तो सभी लोग सर्व सम्मत रूप से स्वीकार करते थे। कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम' जैसे सूत्रों से मंत्र भाग और ब्राह्मण भाग को एकाकार कर दिया गया था, जिसके फलस्वरूप ब्राह्मणों से यत्र-तत्र पाये जाने वाले हिंसाकाण्ड के लिए भी वेद ही दोषी ठहराये जाते थे। ऋषि दयानन्द के वेदार्थ ने वेद मार्तण्ड पर छा जाने वाले इस अज्ञानान्धकार को दूर किया और वेद का वास्तविक स्वरूप जन समाज के समक्ष प्रकट किया। उन्होंने भगवान् मनु के स्वर में स्वर मिलाकर की।

पितृदेवमनुष्याणं वेदश्चक्षु सनातनम्, अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रामति स्थितिः।१२।९४

चातुर्वणयं त्रयोलीकाश्चत्वारश्चाश्रमा पृथक् भूतं भव्यं भविष्यं च सर्व वेदात प्रसिद्धयति।१२।९७

इसीलिए योगी अरविन्द ने वेद भाष्यकार आचार्य दयानन्द के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा।

"Whatever may be the final and complete interpretation of the Vedas, Dayanand will be honoured as the first discoverer of the right clues."

"वेदों का सम्पूर्ण और अन्तिम भाष्य जो कोई भी हो, परन्तु दयानन्द का ठीक वेद भाष्य शैली के प्रथम पुनरुद्धारक के रूप में सदा सम्मान किया जायगा।"

ऋषि दयानन्द की यौगिक प्रक्रिया

वेदार्थ की प्रक्रिया पर विचार करते समय सर्वप्रथम जो बात हमें ध्यान में रखनी है वह यह है कि वेदों की संस्कृत और लौकिक संस्कृत में बहुत बड़ा अन्तर है। जो लोग यह समझते हैं कि संस्कृत के शास्त्री या आचार्य बनकर वेद के रहस्य को समझा जा सकता है, वे भ्रम में हैं। अतः वैदिक और लौकिक संस्कृत का अन्तर ज्ञात करना आवश्यक है—

वी० एस० घाटे ने अपनी पुस्तक Lectures on Rigveda में लिखा है—"Though the dialect of the Veda more particularly the Rigveda is essentially Sanskrit,it differs from the latter in many considerable respects. So much so that to a student of classical Sanskrit pure and simple, the Vedic language should be almost Greek and Latin. The Vedic Sanskrit, if I may so call it, is much simply more regular and less artificial than the classical Sanskrit" ?

अर्थात् यद्यपि वेद की भाषा संस्कृत ही है, परन्तु फिर भी वह कई बातों में उससे इतनी भिन्न है कि लौकिक संस्कृत के एक विद्यार्थी के लिए वैदिक भाषा ग्रीक और लैटिन के तुल्य ही है। यदि इसे वैदिक संस्कृत कहा जाय तो यह कहना पड़ेगा कि यह लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक सरल, नियमित और कम कृत्रिम है।

महा भाष्यकार पातंजलि ने तो शताब्दियों पूर्व ही वैदिक और लौकिक शब्दों के अन्तर का उल्लेख दिया था। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में वे लिखते हैं—"केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च।" अतः जब तक हम इस बात को स्मरण नहीं रखेंगे तब तक वेदार्थ की प्रक्रिया हमारी समझ में नहीं आ सकती। वेदों के कोष निघण्टु को देखने से पता चलता है कि सामान्य संस्कृत में शब्दों के जो अर्थ होते हैं, वेदों में उनका अर्थ बदल जाता है।

उदाहरणार्थ सामान्य संस्कृत का विद्यार्थी 'अहि' से सांप का अर्थ लेता है, परन्तु वेदों में मेघ के लिए 'अहि' का प्रयोग होता है। निघण्टु में 'कण्व' मेधावी पुरुष का नाम है, लोक में 'कण्व' नामक महर्षि प्रसिद्ध है। 'पुरीष' का अर्थ लोक में मल परन्तु निघण्टु में जल है।

एक अन्य उदाहरण लीजिए यजुर्वेद के रुद्राध्याय में आता है— "नमःश्वभ्यः ? यदि लौकिक संस्कृत के अनुसार इसका अर्थ किया जाय तो अर्थ होगा—कुत्तों को नमस्कार ! मध्यकालीन पौराणिक भाष्यकार महीधर मंत्र के रहस्य को न समझकर लिखते हैं—"श्वानः कुक्कुरास्तद्रूपेभ्यो नमः इति नमस्कार मंत्राः" अर्थात् कुत्ते रूपी रुद्र भगवान को नमस्कार होवे।" यदि महीधर वैदिक कोष निघण्टु का सहारा लेते तो देखते कि 'नमः' का अर्थ अन्न भी है। अब हम महर्षि दयानन्द का अर्थ देखें तो ज्ञात होता है कि उन्होंने लिखा है कुत्तों के लिए अन्न देवें। इससे ज्ञात हो जाता है कि वैदिक व्याकरण और वैदिक कोष की सहायता के विना किस प्रकार अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इस प्रकार के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। अतः इस बात को अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि वेद के अर्थ करते समय वेद के व्याकरण, कोष, निरुक्त, निघण्टु आदि की सहायता कहाँ तक ली गई है।

एक वात और स्मरण रखनी चाहिये। संस्कृत के सब शब्द धातुज हैं और धातुओं के अनेकार्थवाची होने को समस्त वैयाकरणों ने स्वीकार किया है। महाभाष्यकार कहते हैं— बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति ? जब यह सिद्ध हो गया कि एक ही धातु के अनेक अर्थ हो सकते हैं तो उस धातु से बनने वाले शब्द के अनेक अर्थ होने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इसे आप चाहें तो यौगिक प्रक्रिया कह सकते हैं। यास्क ने जिस प्रक्रिया से वेदार्थ का उद्घाटन किया है उसे यौगिक पद्धति ही कहते हैं और इसे ही स्वामी दयानन्द ने स्वीकार किया है।

महर्षि दयानन्द ने जब इसके अनुसार वेदार्थ का नमूना विद्वानों के सम्मुख उपस्थित किया तो उनमें एक विचित्र हलचल मच गई। "अग्नि कस्मात् अग्रणी भवति" आदि विरुद्ध के प्रमाणों से जब महर्षि अग्नि का अर्थ ईश्वर, राजा, सेनापति आदि किया तो पं० महेशचन्द्र न्याय रत्न ने उन पर आक्षेप किये। ऐसे लोग त्रिकाल में भी नहीं सोच सकते थे कि 'अग्नि' का अर्थ भौतिक 'आग' के अतिरिक्त कुछ भी हो सकता है परन्तु महर्षि दयानन्द ने अपनी

'भ्रांति-निवारण' नामक पुस्तक के द्वारा ऐसे लोगों का समाधान किया और प्रमाण द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि अग्नि का परमेश्वर परक अर्थ अत्यन्त समीचीन और शास्त्रानुमोदित है ।

महर्षि दयानन्द का योगिकवाद स्वयं वेदों से ही सिद्ध हो सकता है क्योंकि 'इन्द्रं मित्रं वरुण अग्नि माहुरथो दिव्या स सुपर्णो गरूत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यम मातरिश्वान् माहु ।" आदि मंत्रों में अग्नि के मित्र, वरुण, इन्द्र यम आदि अन्य नाम स्वीकार किये गए हैं । यदि 'अग्नि' केवल भौतिक आग का ही वाचक होता तो यहाँ उसका ईश्वर परक प्रयोग कैसे हो सकता था ? वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मणों में शब्दों के असंख्य निर्वचन भरे पड़े हैं जो यह बतलाने में समर्थ हैं कि ब्राह्मणों को भी यौगिकवाद का सिद्धान्त अभीष्ट था । यास्क का निरुक्त शास्त्र तो यौगिक प्रक्रिया का आधारभूत ग्रन्थ ही है । कई लोग निरूक में दी हुई व्युत्पत्तियों के साथ 'वा' का प्रयोग देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि निरुक्तकार के समय में शब्दों का असली अर्थ नष्ट हो गया था । इसलिए यास्क ने सन्देह वाची 'वा' का प्रयोग किया है । जैसे 'पिता पाता वा पालयिता वा' अर्थात् पिता का अर्थ है रक्षा करने वाला, पालन करने वाला आदि । परन्तु यह शंका नितान्त निर्मूल है। 'वा' का प्रयोग तो निरुक्त में सर्वत्र है । यदि यास्क एक भी शब्द के बारे में निश्चित अर्थ का ज्ञान नहीं रखते थे तो वह ग्रन्थ लिखने बैठते ही क्यों ?

यह भी बात नहीं है कि केवल यास्क और दयानन्द ने ही यौगिक पद्धति का सहारा लेकर वेदार्थ किया हो । वेद का अर्थ जानने वाले के लिए तो यौगिक पद्धति ही इतनी अनिवार्य है कि कोई भी आचार्य उसके प्रति उपेक्षा नहीं दिखा सकता । पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने अपने यजुर्वेद भाष्य विवरण की भूमिका से स्कन्द, दुर्ग, भट्ट भास्कर, उव्वट, आत्मानन्द, आनन्दतीर्थ शत्रुघ्न भरत स्वामी, सायण आदि आचार्यों के ग्रन्थों से अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध कर दिया है कि कोई भी वेद भाष्यकार यौगिक पद्धति के प्रति उदासीन नहीं रह सका । महेशचन्द्र न्याय रत्न आदि विद्वानों के आक्षेप तो सर्वथा निस्सार प्रतीत होने लगते हैं । जब हम देखते हैं कि सायरण आदि पौराणिकों के मान्य भाष्यकारों ने भी 'एष: परमा मा अग्नि' (अथर्व भाष्य) इन्द्र: परमात्मा (ऋग्वेद भाष्य) अश्व: व्यापनशील आदित्य (ऋग्वेद भाष्य) आदित्य: परमेश्वर: (ऋग्वेद भाष्य) आदि यौगिकवाद के अनुसार ही अर्थ किये हैं । हाँ, यह अवश्य

कहना पड़ेगा कि सायणादि की आत्मा में यौगिकवाद के स्वरूप का व्यावसायात्मक ज्ञान नहीं था। इसलिए, अनेक स्थानों पर यौगिक प्रक्रिया के अनुसार अर्थ करने पर भी उनका भाष्य रूढ़ि बहुल है। महर्षि दयानन्द की तरह सायण ने सर्वत्र यौगिक प्रक्रिया का अनुसरण नहीं किया, इसीलिए उसे वेदों में अनेक इतिहास, कथा, कहानी और आख्यानों की कल्पना करनी पड़ी। आगे इतिहास के प्रकरण में हम देखेंगे कि वैदिक शब्दों की यौगिक व्याख्या के सिद्धान्त को प्रमुखता न देने के कारण सायण वेद के अपौरुषेयत्व और अनादित्व की रक्षा करने में भी असमर्थ सिद्ध हुए हैं।

—★—

वेदार्थ सम्बन्धी विधिवाद

आज वेदार्थ के सम्बन्ध में तीन प्रकार की धारणायें प्रचलित दिखाई देती हैं—[१] सायण जिसका प्रतिनिधि है, वह पौराणिक या परम्परागत वेदार्थ शैली [२] पाश्चात्य विद्वानों की विकासवाद, भाषाविज्ञान और तुलनात्मक धर्म को आधार बनाकर चलने वाली वेदार्थ पद्धति [३] महर्षि द्वारा व्याख्यात आर्ष शैली जिसे परम्परा का समर्थन प्राप्त है, परन्तु जो रूढ़िवादी मध्यकालीन गतानुरागिता से मुक्त है।

सर्वप्रथम हम पाश्चात्य विद्वानों की वेदार्थ शैली पर विचार करेंगे। यह शैली आधुनिक विकासवाद, तुलनात्मक भाषा विज्ञान आदि नवीन मतों को लेकर चलती है। पाश्चात्यों की वेद विषयक सम्मति क्या है, इसे जानना हो तो श्री अरविन्द का यह उद्धरण पर्याप्त है। 'यूरोपीय पण्डितों के मत में वेद केवल प्राकृतिक घटनाओं को उनमें पुरुष रूप कल्पित करके की गई—पूजाओं का संग्रह मात्र है। इसमें कर्मकांड में बोले जाने वाले अर्द्ध धार्मिक, अर्द्ध चमत्कारिक स्तोत्र विद्यमान हैं। आदिकाल में जिनका पाठ कर श्रद्धालु पशु-तुल्य मानव, स्वर्ण अन्न व पशु-प्राप्ति की आशा करते थे। शत्रुओं का क्रूरता

पूर्वक संहार करने, रोगों, अनिष्टों और राक्षसी प्रभाव से बचने की आशा करते हुए भौतिक स्वर्ग के स्थूल आनन्दों के उपभोग की उम्मीद रखते थे।' इन विद्वानों की सम्मति में वेद एक ही परमात्मा के स्थान पर विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को परम शक्तिशाली विश्व नियामक सत्ता मानकर पूजने का उपदेश देते हैं। इसे उन्होंने Hero Theism का नाम दिया है। विकासवाद की विचारधारा को अपने अध्ययन का आधारभूत सिद्धान्त मानकर चलने के कारण ये लोग वेदों में किसी विकसित समाज व्यवस्था, उन्नत नीतिशास्त्र या आध्यात्मिकता का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। १९वी शताब्दी में जिन जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेज पौर्वात्य विद्या विशारदों ने तुलनात्मक भाषा विज्ञान की नींव डाली थी, वह भी इनके वेदाध्ययन का एक प्रमुख आधार है। परन्तु यह विज्ञान कितना अस्थिर और अव्यवस्थित है, इसे इसके प्रयोक्ता ही ठीक जानते हैं। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान पं० भगवद्दत्त जी ने इस भाषा विज्ञान की जो आलोचना की है और इसकी अनिश्चितता को जिस प्रकार सिद्ध किया है, उसे देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि पाश्चात्य वेदज्ञों का वेदानुसंधान सम्बन्धी प्रयत्न और अध्यवसाय नितान्त तुच्छ है। यहाँ हमें महर्षि द्वारा प्रयुक्त संस्कृत की वह लोकोक्ति भी याद आती है जिसमें कहा गया है—'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते।' पाश्चात्यों का वेदाध्ययन पूर्वाग्रह, पक्षपात आदि दोषों से युक्त था। यह सब कोई स्वीकार करेंगे और यह तो सर्वोपरि स्वीकृत बात है कि पाश्चात्य विद्वानों ने अपने शोध कार्य में भारतीय परम्परा की नितान्त उपेक्षा की है। परम्परानभिज्ञ व्यक्ति किसी प्राचीन ग्रन्थ के साथ कैसा अन्याय कर सकता है, इसे यदि हम प्रत्यक्ष रूप में देखना चाहें तो हमें पाश्चात्यों का वेदार्थ देखना चाहिये। ऋग्वेद और यजुर्वेद के अन्तर्गत जो हिरण्यगर्भ सूक्त आता है उसके प्रत्येक मंत्र के अन्तिम चरण में 'कस्मैदेवाय हविषा विधेम' पढ़ा गया है। जिस व्यक्ति को वेदार्थ की भारतीय परम्परा का ज्ञान है वह ब्राह्मण के ग्रन्थों के अनुसार 'क' नामक प्रजापति के लिए हम हवि अर्पित करें यह अर्थ करेगा। परन्तु इन पाश्चात्य विद्वानों ने इस मंत्र का अर्थ करते हुए यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि वैदिक ऋषियों का आराध्य देव अनिर्णीत और अनिश्चित ही था, वे शशोपंज में पड़े हुए थे कि हम किस देव के लिए अपनी हवि अर्पित करें। उनके हृदय की इसी अनिश्चयात्मकता का सूचक यह वेद मंत्र है। परम्परा को जानने वाले दयानन्द ने इसका अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के

अनुसार ही किया है। इसी प्रकार ऋग्वेद मन्त्र ७।२१।५ में 'शिशनदेव' शब्द का प्रयोग देखकर पाश्चात्यों ने आर्यों में लिंग पूजा की कल्पना करली और यह सिद्धान्त स्थिर किया कि उस युग में लिंग पूजा का भी प्रचार था जो परवेर्ता युग में शैव सम्प्रदाय में स्वीकृत हुई। यदि ये लोग निरुक्त को देखने का कष्ट करते तो उन्हें ज्ञात होता कि 'शिशनदेवा' शब्द का प्रयोग उन कामी पुरुषों के लिए हुआ है जो विषयों की तृप्ति को ही अपना चरम उद्देश्य मानते हैं। वेद मंत्र में ऐसे 'शिशनोदर परायण' पुरुषों के लिये ही 'शिशनदेवा' शब्द का प्रयोग हुआ है। वेदार्थ की नैरुक्त प्रक्रिया को न समझकर इस मन्त्र का अर्थ विकृत करना इन्हीं पाश्चात्य पण्डितों का काम था।

अब हम कुछ शब्द उन व्यक्तियों के लिए लिखना भी आवश्यक समझते हैं, जिनकी दृष्टि के सायण भाष्य एक पूर्ण और वेदार्थ के लिए निर्णायक ग्रन्थ हैं। इनकी दृष्टि में वेदार्थ के रहस्य को समझने के लिए सायण की सहायता अपरिहार्य है। पं० बलदेव उपाध्याय ने सायण भाष्य को 'The only sure and consistent guide in the understanding of the mantras of the Vedas' कहा है। वेदभाष्य भूमिका सग्रह के अंग्रेजी प्रस्तावना में उक्त पण्डित जी ने पुन: लिखा है—

'Indeed, the only sure guide which we possess in those times, when even the masters of the historical method differ from one another as regards the obvious meanings and plain interpretations of early Vedic mantras is the traditionally uniform and deeply suggestive Bhasyas of sayana.'

अर्थात् आज जबकि ऐतिहासिक प्रणाली के आचार्य भी अत्यन्त सरल और स्पष्ट वेद मंत्रों के अर्थों में परस्पर विभिन्न मत रखते हैं, तो हमें यह मानना चाहिए कि सायण का भाष्य ही हमारा एकमात्र सहायक है।

केवल वेदार्थ को समझने के लिए ही नहीं, पं० बलदेव उपाध्याय का तो यह भी दावा है कि आज वेद का जो कुछ अर्थ प्रतीत होता है अथवा उसका जो कुछ रहस्य हमारे बुद्धि पथ में अवतरित होता है, वह सब सायण की ही कृपा का प्रसाद है। अपनी संस्कृत प्रस्तावना में उपाध्याय जी लिखते हैं— 'साम्प्रतं भगवत्या: श्रुत्याः कश्चिदर्थः प्रतीयते, यत् किमपि रहस्यमस्माकं बुद्धिपथभवतरति, निखिलमपि तत् श्री सायणाचार्यस्यानुग्रेह विलसितमेवेति

ध्रुवं मन्यामहे।' हम नम्रता पूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि उपाध्याय जी का कथन अतिशयोक्ति पूर्ण है। हाँ, यह तो कहा जा सकता है कि निरुक्त आदि ग्रन्थ अवश्य ही वेदार्थ के लिए दीपकवत् हैं और सायण ने जहाँ-जहाँ उनका अनुसरण किया है वहाँ-वहाँ उसका अर्थ भी मान्य हो सकता है। परन्तु सायण भाष्य सर्वांश में कदापि मान्य नहीं हो सकता। पाश्चात्यों ने वेदों के सम्बन्ध में जो अवमानना पूर्ण धारणा व्यक्त की थी उसका आधार भी सायण भाष्य ही था। श्री अरविन्द के शब्दों में 'पाश्चात्य विद्वान सायण के भाष्यों व निर्देशों के आधार पर ही वेदों को प्राकृतिक देवों के प्रति आधारित कर्म-काण्ड परकसूक्तों की संग्रह पुस्तक मानते हैं।

ऐसी स्थिति में श्री अरविन्द ने महर्षि दयानन्द के वेद भाष्य को जिन शब्दों में श्रद्धाजलि अर्पित की है, हमें उनसे सहमत होना ही पड़ता है। वे लिखते हैं—'दयानन्द द्वारा प्रकाशित वेदार्थ को स्वीकार करते ही कर्मकांड परक, गाथावादी और बहुदेव परक सायण की व्याख्या के साथ नक्षत्र विद्या परक और प्रकृतिवादी पाश्चात्यों के भाष्य स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं।' महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य का सम्यक रूपेण अध्ययन करने के पश्चात् हमारी जो धारणायें बनती हैं, उन्हें हम सारांश रूप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

[१] वेद अपौरुषेय होने से ईश्वर का नित्य ज्ञान है।
[२] वेद के समस्त पद यौगिक हैं, रूढ़ नहीं।
[३] वेद में किसी देश, जाति और व्यक्ति इतिवृत्त नहीं है।
[४] वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।
[५] वेद में समस्त पदार्थ विज्ञान का सूत्र रूप से वर्णन है।
[६] सम्पूर्ण वेद का वास्तविक तात्पर्य अध्यात्म में है।
[७] वेद के अग्नि, वायु, इन्द्र आदि समस्त देवता वाचक पद उपासना प्रकरण में परमेश्वर के वाचक होते हैं, अन्यत्र भौतिक पदार्थों के।
[८] युक्ति और प्रमाण के अनुसार वेद का याज्ञिक अर्थ भी हो सकता है।
[९] वेद की वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक हुई है।
[१०] वेद में भौतिक जड़ पदार्थों से याचना, अश्लीलता, वर्गद्वेष, पशु-हिंसा आदि अनर्थकारी बातों का उल्लेख नहीं है।

[११] वेद स्वतः प्रमाण है, अतः अन्य समस्त वैदिक और लौकिक साहित्य वेदानुकूल होने के प्रमाण हैं।

[१२] वेद की व्याख्या के लिए वेदांगों, उपवेदों, दर्शनों, ब्राह्मणों और उपनिषद् आदि ग्रन्थों की सहायता ली जा सकती है, परन्तु कोई भी मन्त्र व्याख्या इन ग्रंथों के विपरीत होने से अप्रामाण्य नहीं हो सकता जब तक वह स्वयं वेद से विपरीत न हो।

वेदों का वास्तविक स्वरूप तभी स्फुट हो सकता है जब उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों का सप्रमाण, विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जाय। महर्षि दयानन्द और उनके अनुगामी विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक इन सभी बातों पर विचार किया है। अतः उसे दुहराना पुनरुक्ति मात्र समझकर हम एक बार पुनः योगी अरविन्द के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते हैं—'मेरा यह दृढ़ विश्वास बन गया है कि वेदों की व्याख्या के विषय में दयानन्द सत्य सूत्रों के कारण प्रथम भाष्य कर्ता के रूप में आदृत होंगे। दयानन्द की दिव्य दृष्टि ने ही पुरातन अज्ञान, और युगों से चली आने वाली मूर्खता के अँधकार से आवृत्त इस दिव्य वस्तु को देखा।'

—★—

वेद भाष्यकार सायण और दयानन्द

अनादि ज्ञान वेद के रहस्य को जानने का प्रयत्न सृष्टि के आदिकाल से होता चला आ रहा है। पद पाठ,, शाखा भेद आदि उसके प्रारम्भिक रूप थे। तत्पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदार्थ को स्फुट करने का प्रयत्न किया गया। ब्राह्मण ग्रन्थों में जहां एक ओर मन्त्रों के याज्ञिक और विनियोग परक अर्थ किये गए हैं, वहाँ मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ करने की भी चेष्टा की गई है। तत्पश्चात् वेद के अंगों और उपांगों की रचना हुई। यास्क का निरुक्त वेदार्थ को स्पष्ट करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसी प्रकार व्याकरण, छन्द,

ज्योतिष-कल्प, शिक्षा आदि शास्त्र भी अपनी-अपनी रीति से वेदार्थ के स्पष्टीकरण में सहायक हुए।

परन्तु अब तक वेद की संहिताओं पर पृथक भाष्यों की रचना नहीं हुई थी। अब धीरे-धीरे इस बात की भी आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि पृथक्-पृथक् सहिताओं गर विस्तृत भाष्य रचना हुए बिना वेदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है। चारों वेदों पर प्राचीन और अर्वाचीन काल में अनेक विद्वानों द्वारा भाष्य लिखे गये, जिनमें स्कन्द स्वामी (ऋग्वेद भाष्यकार) सर्वाधिक प्राचीन है। इनके अतिरिक्त उद्गीथ, उव्वट, भट्ट भास्कर, वेंकट माधव, आत्मानन्द आनन्द तीर्थ आदि विद्वानों ने अपनी शैली से वेद भाष्य लिखे।

मध्यकालीन भाष्यकारों में सायण सर्वप्रमुख हैं। आचार्य सायण का वेद भाष्यकारों में पृथक् महत्त्व है। इसका कारण यह है कि सायण उस युग में उत्पन्न हुए थे, जब कि देश में यवन-साम्राज्य दृढ़ हो चुका था। दक्षिण में हरिहर और बुक्क नामक दो भाइयों ने एक हिन्दू राज्य की नींव डाली जो इतिहास में विजयनगर के इन्हीं सम्राटों के मन्त्री थे और उन्होंने राजनीतिक कुशलता, संग्राम चातुरी तथा अपने शास्त्र ज्ञान से अपने आश्रयदाताओं को चकित कर लिया था। इनके भाई माधवाचार्य भी बड़े भारी विद्वान् थे।

बुक्क राजा की आज्ञा से तथा अपने अग्रज माधवाचार्य की प्रेरणा से सायण ने वेद भाष्य के महत्त्वपूर्ण कार्य में हाथ लगाया और राजकार्य में संलग्न रहते हुए भी वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों पर वृहद् भाष्यों की रचना की। सायण की निम्न भाष्य रचनायें उपलब्ध हैं :—

(१) वैदिक सहितायें—

(क) ऋग्वेद संहिता।

(ख) यजुर्वेद की तैत्तिरीय (कृष्ण) और काण्व (शुक्ल) शाखा।

(ग) सामवेद संहिता।

(घ) अथर्ववेद संहिता।

(२) ब्राह्मण और आरण्यक।

(क) तैत्तिरीय ब्राह्मण।	कृष्ण यजुर्वेद
(ख) तैत्तिरीय आरण्यक।	,,
(ग) ऐतरेय ब्राह्मण।	ऋग्वेद
(घ) ऐतरेय आरण्यक।	,,

(ङ) शतपथ ब्राह्मण । शुक्ल यजुर्वेद
(च) तांडय ब्राह्मण सामवेद
(छ) षडविंश ,, ,,
(ज) सामविधान ,, ,,
(झ) आर्षेय ,, ,,
(ञ) देवताध्याय ,, ,,
(ट) उपनिषद् ,, ,,
(ठ) संहितोपनिषद् ,, ,,
(ड) वंश ,, ,,

उपर्युक्त सूची के पाठक सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि सायण प्रणीत साहित्य कितना विशाल और महत्वपूर्ण होगा। यद्यपि सायण के समय में वेद का पठन पाठन और वेदार्थ की प्राचीन आर्ष परिपाटी का अधिकांश में लोप हो गया था, फिर भी ब्राह्मणों में वेदों के प्रति यत्-किंचित् श्रद्धा शेष थी। इसी का परिणाम है कि वेदार्थ की तात्विक प्रक्रिया से अनभिज्ञ होते हुए भी सायण ने वैदिक साहित्य में इतना परिश्रम किया। आज वेदार्थ की सायण द्वारा प्रतिपादित परिपाटी का अधिक सम्मान नहीं रहा है, फिर भी प्रत्येक वेद प्रेमी को उसके भाष्य रचना विषयक महान् परिश्रम और अध्यवसाय के लिये कृतज्ञ होना चाहिये।

ऋषि दयानन्द ने जिस युग और जिन परिस्थितियों में वेदों पर अपनी भाष्य रचनायें लिखीं, वह सायण से मूलतः भिन्न थीं। अंग्रेज़ी साम्राज्य का लोहपाश भारतीय जनता के अंगों पर कस दिया गया था। विजयनगर सम्राट की तरह ऐसा कोई नरेश या श्रेष्ठी नहीं था जो वैदिक धर्म और संस्कृति को प्रश्रय देकर उसके उद्धार का उपाय सोचे। ईसाई लोग अपने धर्म बन्धुओं का राजाश्रय पाकर भारतीय जनता को अपने मत में दीक्षित करने के लिए सभी उपाय काम में ला रहे थे। शताब्दियों की दासता के कारण वैदिक धर्मावलम्बी अपने धर्म, अपनी परम्परा, संस्कृति और सभ्यता को भुला चुके थे। ईसाइयों के आक्रमणों से वे हतप्रभ होकर निराश नेत्रों से सहायता के लिए चारों ओर देखते, परन्तु किसी को सहायक न पाकर चुपचाप अपने पैतृक धर्म को तिलांजलि देकर ईसाई बन जाते।

ऐसी परिस्थिति में दयानन्द का आविर्भाव हुआ। यद्यपि उनसे पूर्व ही

राजा राममोहनराय ब्रह्म समाज की स्थापना के द्वारा परम्परागत धर्म और सभ्यता की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो चुके थे परन्तु वेदों को अपने आन्दोलन का मूलाधार स्वीकार न करने के कारण उनका कार्य छिन्न-भिन्न हो रहा था। ईसाई तत्व प्रच्छन्न रूप से ब्राह्म समाज और उसके नेताओं की विचारधारा में प्रविष्ट हो चुके थे। फलतः हिन्दुओं का उनमें विश्वास जमना कठिन था। इसके विपरीत दयानन्द का सुधार कार्य वैदिक आधार पर टिका हुआ होने के कारण अधिक लोकप्रिय हो सका और अल्पकाल में ही उसने उत्तर भारत की समस्त जनता को प्रभावित कर लिया।

इस समय ऋषि दयानन्द को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि जिन वेदों को वे पुनः भारत के जनमानस में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं और जिनको आधार के रूप में स्वीकार कर वे एक बृहद् संस्कार और सुधार का कार्य करने चले हैं, उनका वास्तविक स्वरूप और अर्थ जनता के समक्ष प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक है। फलतः ऋषि दयानन्द ने वेद भाष्य का कार्य अपने हाथ में लिया।

सं०१९३३ वि० के भाद्रपद मास शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा रविवार को महर्षि ने अपनी 'वेदभाष्य भूमिका' का प्रणयन प्रारम्भ किया। इसके एक वर्ष पश्चात् मार्गशीर्ष शु० ६, सं० १९३४ को ऋग्वेद और एक मास के पश्चात् पौष शुक्ला १३ को यजुर्वेद का भाष्य प्रारम्भ किया। अपने इस भाष्य के सम्बन्ध में उनकी प्रतिज्ञायें निम्नलिखित थीं।

मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थ सत्यमानतः।
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते॥

मनुष्यों के हित के लिए और सत्यार्थ के प्रकाशन के लिए ईश्वर के अनुग्रह से मैं यह वेद-भाष्य प्रारम्भ करता हूँ।

संस्कृत प्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।
मन्त्रार्थ वर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ्मया।

यह वेद भाष्य संस्कृत और प्राकृत (हिन्दी) दोनों भाषाओं में किया जायगा।

आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्या रीति सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा॥

इसमें प्राचीन आर्य ऋषि मुनियों की सनातन व्याख्या पद्धति को ही

अपनाया जायगा, और किसी रीति को नहीं।

येनाधुनिक भाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः।
दोषा सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थ विवर्णनाः॥

इस भाष्य से अन्य नूतन भाष्यों और टीकाओं से वेदों पर जो दोष आ गये है, वे सब दूर हो जायेंगे।

सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः।
ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम्॥

वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग जानें इसलिए ईश्वर की सहायता से मैं इस महत्वपूर्ण कार्य को आरम्भ करता हूँ।

भूमिका में उल्लिखित इन प्रतिज्ञा श्लोकों से पाठकों को विदित हो गया होगा कि ऋषि दयानन्द की वेदों के विषय में क्या धारणा थी और अपने वेद भाष्य की रचना में उनका क्या उद्देश्य था। इसे देश का ही नहीं, अपितु समस्त मानव जाति का ही दुर्भाग्य समझना चाहिये कि महर्षि दयानन्द अपने इस महत्वपूर्ण कार्य को पूरा करने से पूर्व ही दिवंगत हो गये और वेदार्थ की एक नूतन परन्तु प्राचीन परम्परा समन्वित तथा पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या से हम वंचित रह गये। ऋषि ने यजुर्वेद का भाष्य तो सम्पूर्ण कर लिया, ऋग्वेद का भाष्य पूरा नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में सामवेद और अथर्ववेद के भाष्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

जो कुछ भी हो, दयानन्द का वेद भाष्य वैदिक साहित्य में एक नवीन युग का सूत्रपात करता है। मैक्समूलर के शब्दों में तो समग्र संस्कृत साहित्य का यदि आरम्भ ऋग्वेद से मानें तो उसकी समाप्ति दयानन्द की ऋग्वेद भाष्य भूमिका में होती है।

We may decide the whole of Sanskrit Literature beginning with the Rigveda and ending with Dayanand's introduction to his edition of Rigveda, his by no means uninteresting Rigveda Bhumika in two great periods." India : What can it teach us. Lec. III.

दयानन्द की भाष्य शैली को लेकर पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है। अनेक विद्वानों ने उसके पक्ष और विपक्ष में अपने विचार प्रकट किये हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि आने वाली शताब्दियों के

लिए दयानन्द का वेदभाष्य पथ प्रदर्शक का काम करता रहेगा। योगी अरविन्द के शब्दों में—

"Whatever may be the final and complete interpretation of the Vedas, Dayananda will be honoured as the first discover of the right clues."

अर्थात् वेदों का सम्पूर्ण और अन्तिम भाष्य, जो कोई भी हो, परन्तु ठीक वेद भाष्य शैली के प्रथम उद्धारक के रूप में दयानन्द का सदा सम्मान किया जायगा। आगे के लेखों में हम सायण और दयानन्द के वेद विषयक विचारों का तुलनात्मक परिशीलन उपस्थित करने का यत्न करेंगे।

—★—

ऋषि दयानन्द और सायणाचार्य

वेदाधिकार विवेचन

वह दिन अत्यन्त दुर्भाग्य का सूचक था जिस दिन हमारे तथाकथित धर्माचार्यों ने स्त्री शूद्रों के शास्त्राध्ययन पर प्रतिबंध लगाया। यद्यपि वेदों की मन्त्रदृष्टी ऋषिकाओं के रूप में घोषा, अपाला, लोपामुद्रा जैसी नारियों का नाम कोई भी वैदिक साहित्य का अध्येता व्यक्ति विस्मरण नहीं कर सकता, तथापि कालान्तर में वेदाध्ययन के अधिकार से स्त्री और शूद्रों को वंचित कर दिया गया। यह अन्याय यहीं तक सीमित नहीं रहा। यह भी कहा गया कि यदि शूद्र कानों से वेद मन्त्र सुन लें तो उसके कानों को शीशे से भर देना चाहिये, यदि वह वेद का उच्चारण करे तो उसका जिह्वाच्छेद और शरीर भेद कर देना चाहिये। यह पाशविक अमानुषिक आज्ञायें धर्म के नाम पर प्रचलित की गईं। संकीर्णमना शास्त्रकारों ने शूद्र को शमशानवत् माना तथा उसके समस्त अधिकार छीन लिये।

अब जरा इन आचार्य मन्यों के स्त्रियों के प्रति अनुदारतापूर्ण व्यवहार को

देखिये। बड़े दार्शनिक कहलाने वाले तथाकथित महात्माओं ने नारी की अपार महिमा को विस्मृत कर उसके प्रति जिन अपमानपूर्ण भावनाओं को व्यक्त किया है। यदि सम्पूर्ण रूप से उस पर विचार किया जाय तो एक पृथक् ग्रन्थ की आवश्यकता पड़ेगी। सायणाचार्य भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनके विचारों में भी हमें यत्र-तत्र ऐसी ही संकुचित धारणाओं की अभिव्यक्ति मिलती है जो इन मध्यकालीन धर्माचार्यों की एक सामान्य विशेषता रही है। सायण ने अपनी वेद भाष्यभूमिका में वेद के पढ़ने का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग को ही दिया है, स्त्री और शूद्र तो उससे वंचित ही रहे हैं। नीचे कुछ प्रमाण दिये जाते हैं :—

तैत्तिरीय संहिता भाष्यभूमिका के प्रारम्भ में ही सायण ने पूर्वपक्ष स्थापित किया है—'नन्वेवं सति स्त्री शूद्र सहिताः सर्वे वेदाधिकारिणः स्युः इष्टं मे स्याद निस्टेमा भूदिति आशिषः सार्वजनीनत्वात्।' अर्थात् ऐसा होने से स्त्री शूद्र सहित सभी वेदाधिकारी हो जायेंगे क्योंकि सभी लोग इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के इच्छुक हैं। इसके उत्तर में वह लिखते हैं—"नैवं, स्त्री-शूद्रयोः सत्युपात्रे बोधार्थित्वे हेत्वन्तरेण वेदाधि कारस्य प्रतिबद्धत्वात्। उपनीत-स्यैवाध्ययनाधिकारं ब्रुवच्छास्त्रमनुपनीतयोः स्त्रीशूद्रयोर्वेदाध्ययन मानष्ट प्राप्ति हेतुरिति बोधयति। कथं तर्हि तयोस्तदुपायावगमः पुराणदिभिरिति ब्रूमः अत एवोक्तम् स्त्रीशूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुति गोचरा। इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम् भागवत तस्मादुपनीतैरेव त्रैवर्णि कैर्वेदस्य सम्बन्धः॥" अर्थात् स्त्री शूद्रों का वेदों में अधिकार नहीं है। जिनका उपनयन होता है उनका ही वेद में अधिकार होता है यह शास्त्र का विधान है इसलिये उपनयन के अभाव में स्त्री शूद्रों को वेद का अधिकार नहीं है, जैसा कि भागवत में कहा है—स्त्री, शूद्र और पतित द्विजों का वेदों में अधिकार नहीं है इसलिए व्यास जी ने कृपा-पूर्वक उनके लिए महाभारत की रचना की है। अतः सिद्ध हुआ कि उपनीत होने के कारण वेद में में तीनों वर्णों का ही अधिकार है।

यही बात सायण ने ऋग्वेद भाष्य की उपक्रमणिका में लिखी—'धर्मब्रह्म ज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी स च त्रैवर्णिकः पुरुषः। स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञाना-पेक्षायाम् उपनयनाभावेन अध्ययनराहित्याद् वेदे अधिकारः प्रतिषिद्धः। धर्म ब्रह्म ज्ञानं तु पुराणादि वेनमुखेन अर्थ ज्ञाने अधिकारः।' अर्थात् धर्म और ब्रह्म के ज्ञान की इच्छा करने वाला ही वेद का अधिकारी है। वह त्रैवर्णिक पुरुष ही

होता है स्त्री शूद्रों का उपनयन के अभाव में वेद में अधिकार नहीं है। त्रैवर्णिक पुरुष ही वेद मुख से अर्थ का अधिकारी होता है। यह है सायण की संकुचित विचार सरणि का यत् किंचित दिग्दर्शन। सायण के इस तर्क में कोई सार नहीं है कि उपनयन रहित होने से शूद्र को वेद पढ़ने का कोई अधिकार नहीं है। शूद्र को उपनयन के अधिकार से वंचित करना भी उतना ही अन्यायपूर्ण कृत्य है जितना उसे वेद के अध्ययन से वंचित करना। अतः उपनयन की दुहाई देकर वेदाधिकार का निषेध करना भेड़िये और मेमने वाली कथा की याद दिलाता है।

इसके विपरीत महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रंथों में स्त्री शूद्रों के वेदाधिकार का बलपूर्वक प्रतिपादन किया है। सत्यार्थप्रकाश में ऋषि द्वारा निर्मित पूर्वपक्ष और सिद्धांत पक्ष देखिये—पौराणिक पूछता है—'क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है जैसा यह निषेध है। स्त्री शूद्रौ नाधीयतामिति श्रुतेः। स्त्री और शूद्र न पढ़ें यह श्रुति है।''

उत्तर—''सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोल-कल्पना से हुई है, किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और सब मनुष्यों के वेदादि शास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के २६ वें अध्याय में दूसरा मन्त्र है।'' कई लोगों को शायद स्वामी जी का यह वाक्य कि तुम कुआ में पड़ो कटु जान पड़ेगा, परन्तु यदि वे प्रश्नकर्ता के स्वार्थपूर्ण आशय पर दृष्टिपात करेंगे तो उन्हें स्वामी जी के आशय में कुछ भी कटुता नहीं दिखाई दे। जो व्यक्ति स्वार्थ-वश होकर दूसरे के औचित्यपूर्ण अधिकारों को छीने और फिर निर्लज्जतापूर्वक अपनी बात को उचित माने तो उसे ऐसा मुँह-तोड़ उत्तर देना ही समीचीन प्रतीत होता है। शठे शाठ्यं समाचरेत्। ऋग्वेद भाष्यभूमिका में भी स्वामी जी ने 'अधिकारानधिकार विषयः' नामक प्रकरण के अन्तर्गत इस विषय पर अधिकारपूर्ण ढंग से लिखा है। जिसमें बलपूर्वक स्त्री शूद्रों के वेदाधिकार का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ का कुछ मूल संस्कृत अंश हम उद्धृत करते हैं—वेदादि शास्त्र पढ़ने सर्वेषामधिकारोऽस्त्याहोस्विन्नेति? सर्वेषामस्ति। वेदानामीश्वरोक्तत्वात्सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात्सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च। यद्यद्धि खलु परमेश्वर रचितं वस्त्वस्ति तत्सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः। अत्र

प्रमाणम्—

यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्रायचार्याय च स्वाय चारणाय ॥

इस प्रकार हम देखते है कि ऋषि दयानन्द ने आर्यों के लिए स्वतः प्रमाण-भूत वेद से ही प्राणिमात्र के लिए वेद के अध्ययन के अधिकार की घोषणा की। सत्यार्थप्रकाश में तो महर्षि ने अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में कुछ तर्क योजना भी की है जिससे उनके पक्ष की अकाट्यता सिद्ध होती है। तृतीय समुल्लास में वे लिखते है—'क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिये विधि करे? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने-सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत आदि इन्द्रिय क्यों रचना? जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये है वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये है। और जहाँ कहीं निषेध किया है उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहलाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है।" स्त्रियों के वेदाधिकार को सिद्ध करने के लिये स्वामी जी ने अथर्ववेद का 'ब्रह्मचर्येणकन्या युवानं विन्दते पतिम्' मन्त्र प्रस्तुत किया है और श्रौत सूत्रादि के 'इमं मन्त्र पत्नी पठेत्' आदि आदेश वाक्यों से यह सिद्ध कर दिया कि यदि स्त्री वेदादि शास्त्रों को नहीं पढ़ी होगी तो यज्ञ में स्वर सहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सकेगी? दयानन्द की इस महान् उदारता से प्रभावित होकर जगत् विख्यात विचारक रोमां रोलां ने ठीक ही लिखा है—

It was in truth an epoch making date for India, when a Brahmin, not only acknowledged that all human beings have the right to know the Vedas, whose Study had been previously prohibited by orthodox Brahmins, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya." अर्थात् भारत में वह एक नवयुग का निर्माणवर्ती दिन था जब एक ब्राह्मण ने (स्वामी दयानन्द ने) न केवल यह स्वीकार किया कि सब मनुष्यों को वेदों के अध्ययन का अधिकार है, जिसे कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने निषिद्ध कर रखा था, प्रत्युत साथ ही उसने बल दिया कि उनका पढ़ना तथा प्रचार करना प्रत्येक आर्य का धर्म है।

इस कथन में कोई सत्य नहीं है कि महर्षि दयानन्द ने समस्त प्राणियों को वेदाधिकार प्रदान किये जाने के लिए 'यथेमां वाचं' जिस यजुमन्त्र की व्याख्या प्रस्तुत की थी वह खींचातान युक्त मनमानी तथा स्वमत पोषक होने के कारण अमान्य है। खण्डन-मण्डन के एक युग में पौराणिक पंडितों ने सम्मिलित रूप से उक्त मन्त्र की महर्षिकृत व्याख्या का विरोध किया था और कहा था कि इस मन्त्र में प्रजा के प्रति राजा की उक्ति है। हमें यह कहते हुए तो और भी आश्चर्य तथा खेद होता है कि श्री पं० नरदेव शास्त्री जैसे वयोवृद्ध आर्यसमाजी महानुभाव को भी महर्षि के अर्थ पर शंका हुई थी और उसे उन्होंने अपने 'आर्यसमाज के इतिहास में व्यक्त किया था। परन्तु वर्तमान युग के सभी आर्येत्तर पण्डितों और विद्वानों ने एकमत होकर महर्षि के उदारता और दूरदर्शिता पूर्ण विचारों की प्रशंसा करते हुये यह स्वीकार किया है कि 'यथेमां वाचं' मन्त्र मनुष्य मात्र को वेद का अधिकार प्रदान करता है।

सर्वप्रथम हम प्रसिद्ध बंगाली विद्वान् पंडित सत्यव्रत सामश्रमि के मत का उल्लेख करेंगे। आपने अपने 'ऐतरेयालोचन' नामक ग्रन्थ में लिखा है—'शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामी दयानन्देन' 'यथेमा वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः इति।" अर्थात् शूद्रों के वेदाधिकार के विषय में स्वामी दयानन्द ने साक्षात् वेद मन्त्र का प्रमाण दिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेद के विधान में किसी प्रकार का पक्षपात दोष नहीं आता।

सामश्रमि जी ने तो स्पष्टरीत्या स्वामी दयानन्द के नामोल्लेख पूर्वक ही शूद्रों के वेदाधिकार का प्रतिपादन किया है परन्तु अन्यान्य विद्वानों ने उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ स्वतन्त्र रूप से भी स्वामी जी के अर्थ के तुल्य ही किया है और उससे शूद्र के वेद अधिकार का प्रतिपादन किया है। इनके ग्रथों के विस्तृत उद्धरण न देकर हम उनके नामों का उल्लेख करके ही संतोष कर लेते हैं। पं० हरप्रसाद जी वैदिक मुनि ने अपने वेदान्त सूत्र भाष्य के अपशूद्राधिकरण प्रकरण के अन्तर्गत 'यथेमां वाचं' मन्त्र को उद्धृत करते हुए महर्षि दयानन्द के अनुकूल ही अर्थ किया है। अपने स्वाध्याय संहिता नामक एक अन्य ग्रन्थ में भी उन्होंने उक्त मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है।

इसी प्रकार रामानन्दी सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी भगवदाचार्य, भारतीय विद्या भवन के इतिहासोपाध्याय पं० शिवदत्त जी ज्ञानी, सनातन धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् पं० गंगाप्रसाद शास्त्री, सनातन धर्म कालेज मुल्तान के कार्य निवृत्त

आचार्य पं० चूड़ामणि शास्त्री शांडिल्य आदि अनेकश: विद्वानों ने महर्षि कृत अर्थों की युक्तियुक्तता स्वीकार करते हुए प्राणिमात्र को वेद ज्ञान का अधिकारी माना है ।

अत: यह आक्षेप निराधार है कि महर्षि का वेदाधिकार विषयक उदारतापूर्ण दृष्टिकोण उनका कल्पना प्रसूत है और उसके लिए कोई शास्त्रीय आधार नहीं है । सत्य तो यह है कि शास्त्रों के अध्ययन पर प्रतिबन्ध लगाने वाले आदेश ही स्वार्थी लोगों ने मनमाने रूप से कल्पित कर लिये थे । आज के प्रजातन्त्र युग में तो ऐसे विचार और भी हास्यास्पद हैं । जो पौराणिक पंडित आर्यसमाज की वेदी से वेद मन्त्रों का उच्चारण सुनकर इस भय से कि यह शूद्रों के कानों में पड़ेंगे शिव शिव की रट लगाने लगते थे और धर्म नष्ट हो जाने का कोहराम मचा देते थे, आज वे स्वयं भी अपने भाषणों और प्रवचनों में वेद मन्त्रों का बाहुल्य से प्रयोग करते हैं । क्या यह ऋषि दयानन्द के उदार सिद्धांत की अप्रत्यक्ष विजय नहीं है ?

—★—

वेद और विज्ञान

महर्षि दयानन्द की सम्मति में वेद संसार की समस्त आध्यात्मिक और भौतिक विद्याओं का मूल उत्स है । उन्होंने आर्यसमाज के नियमों की रचना करते समय वेदों के सम्बन्ध में जो नियम बनाया, यह भी वेदों को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक घोषित करता है । महर्षि के इस कथन का अभिप्राय यह है कि वेद जहाँ एक ओर पारलौकि कर्तव्यों की व्याख्या करता है वहाँ उसमें भौतिक विज्ञान के बीज भी मूल रूप में विद्यमान हैं । महर्षि के इस सिद्धान्त में यों तो कोई नवीनता नहीं थी क्योंकि मनु आदि प्राचीन शास्त्रकारों ने भी वेदों को सभी धर्मों और कर्तव्यों का मूल[१] तथा ज्ञान का आदि स्रोत स्वीकार किया था, परन्तु महर्षि ने इस सत्य को इस प्रकार से अभिव्यंजित किया

जिससे लोगों को यह सन्देह होने लगा कि वे वेदों के विषय में एक नवीन मतवाद की स्थापना कर रहे हैं।

महर्षि ने अपनी वेद भाष्य भूमिका में वेदानुमोदित बिभिन्न विषयों का प्रामाणिक रूप से प्रतिपादन किया, साथ ही इन्होंने कुछ ऐसे विषयों का भी निर्देश किया जो मूलतः भौतिकवादी विज्ञानों से सम्बन्ध रखते थे। ऋषि ने विज्ञान की जिन शाखाओं का मूल वेदों में खोज निकाला था उनमें से प्रमुख ये हैं—(१) पृथिव्यादि लोक भ्रमण (२) धारणाकर्षण विषय (३) प्रकाश्य प्रकाश विषय (४) गणित विद्या (५) नौ विमानादि विद्या (६) तार विद्या (७) वैद्यकशास्त्र। इन सात विषयों में से प्रथम तीन तो स्पष्ट ही भूगोल और ज्योतिष सम्बन्धी विषय हैं। वेदांगों में ज्योतिष का कितना महत्व है यह किसी से अप्रकट नहीं है। ज्योतिष को वेद का चक्षु कहा गया है। 'आकृष्णेन रजसा' जैसे मन्त्रों की उपस्थिति में यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि वेद में इस विद्या का मूल अवश्य है। गणित तथा वैद्यक विषयक उल्लेख भी वेदों में यत्र-तत्र आये हैं। अथर्ववेद में ग्रायुर्वेद शास्त्र का वर्णन है। अब केवल दो विद्यायें शेष रह जाती हैं जिनके आधार पर विपक्षी लोग यह आक्षेप करते हैं कि स्वामी दयानन्द ने वेदों में विज्ञान की मनमानी कल्पना कर ली है। ये विद्यायें हैं नौका विमानादि तथा तार विद्या।

नौकाओं और विमानों का वेद मन्त्रों में इतना स्पष्ट उल्लेख है कि कोई दुराग्रही व्यक्ति ही इस बात का हठ करेगा कि वैदिक युग में लोग इन यन्त्रों से वंचित थे। यही बात तार विद्या के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वामी दयानन्द के विज्ञानवाद पर आक्षेप सब कोई करते हैं परन्तु किसी ने उनके दिये हुए प्रमाणों का खण्डन आज तक नहीं किया।

आक्षेपकर्ता एक बात यह भी भूल जाते हैं कि स्वामी जी ने जहाँ वेद में विज्ञान के मूल तत्वों की उपस्थिति की बात कही है वहाँ इनका अभिप्राय क्या है ? ग्रन्थकार के अभिप्राय को समझे बिना यों ही आक्षेप कर बैठना अनुचित है। स्वामी दयानन्द ने वेदों में जहाँ-जहाँ विज्ञान का मूल बताया है वहाँ-वहाँ उनके कथन का तात्पर्य इतना ही है कि सृष्टि के प्रारम्भ काल में ईश्वर प्रदत्त होने के कारण वेदों में सभी ऐहिक और आयुष्मिक विषयों का समावेश माने बिना निष्कृति नहीं हो सकती। परन्तु वेदों में इन विषयों का

विस्तृत उल्लेख और विवेचन मिलेगा। ये विद्यायें बीज रूप में हैं और पश्चात् वे ही ऋषियों, विद्वानों और मनीषियों ने वहाँ से लेकर ही उन बीजरूपी विद्याओं को महावृक्ष का रूप दे दिया है जो आज हमारे समक्ष विद्यमान हैं। मनु ने जब वेदों की महत्ता का कीर्तन करते हुए कहा था—

चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चात्वारश्चाश्रमा पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रतिद्धयति॥
सैनापत्यं च राज्यं च दण्ड नेतृत्व मेवच।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्र विदर्हति॥[1]

तो उसका भी अभिप्राय यही था कि वेदों में सर्व विद्याओं, समस्त सामाजिक, राजनैतिक, सामरिक संस्थाओं तथा विधानों का मूल है। आक्षेप करने वाले महर्षि के हृदयगत भाव को न समझकर मनमाने आक्षेप करते हैं। कोई चाहता है, क्या वेद में एटम बम भी है? अन्य व्यक्ति कहता है अब एटम बम के आविष्कृत हो जाने पर दयानन्द के अनुयायी वेदों में एटमबम की सत्ता को को भी सिद्ध करने लग जायेंगे। अथवा यह कहा जाता है कि दयानन्द के युग में तार आदि जिन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचार हो गया था उन्होंने उन-उन आविष्कारों की सत्ता ही वेद मन्त्रों से सिद्ध कर दिखा दी यदि वे आज के युग में होते तो भी वे यही करते और परमाणुबम आदि विज्ञान के नवीनतम आश्चर्यों का मूल भी वेदों में खोज निकालते।

हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि अधिकांश आक्षेप कर्ता इसी कोटि के हैं और वे महर्षि के मन्तव्य को नहीं समझ सके। उनका कथन है कि स्वामी जी ने देश मे एक नूतन अंधविश्वास को जन्म दिया है। उनके पूर्व भी वेद हिन्दुओं के पूज्य ग्रन्थ थे और वे आज भी हैं किन्तु, पूज्य होने के माने यह तो नहीं है कि वेद में त्रिकाल का ज्ञान समाहित है। स्वामी जी ने कहा है कि वेद में केवल धर्म की ही बातें नहीं हैं, उसमें विज्ञान की भी सारी बातें प्रच्छान्न हैं…वेदों को सभी ज्ञानों का कोष मान लेने से लोगों के ज्ञानोन्मेष में वाधा भी पड़ी?"[2]

---

१. मनुस्मृति अ०

२. संस्कृति के चार अध्याय: श्री दिनकर पृ० ४६९

हमारा निवेदन है कि ऋषि दयानन्द का वेदों में विज्ञान का मूल मानने का सिद्धान्त ज्ञान की वृद्धि या नवीन ज्ञानोन्मेष का बाधक नहीं है। यदि उनका यही मत होता तो वे स्पष्ट लिख देते कि वेदों के अतिरिक्त और किसी ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ के अध्ययन की आवश्यकता ही नहीं है। परन्तु हम देखते हैं कि उन्होने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने तो अपनी पठन-पाठन प्रणाली में वेदों के अतिरिक्त अन्यान्य लौकिक विद्याओं के ग्रन्थों के अध्ययन की व्यवस्था की है। उन्होंने अपने जीवनकाल में भी अनेक युवकों को जर्मनी आदि यूरोप के भौतिक समृद्धि और कला-कौशल प्रधान देशों में ज्ञान विज्ञान सीखने के लिए भेजने को योजना बनाई थी, यह उनकी जीवनी से स्पष्ट सिद्ध होता है। यदि उनका यही अभिमत होता कि वेदों के अध्ययन के अतिरिक्त अन्य किसी विज्ञान को सीखने की कोई आवश्यकता ही नहीं है तो वे ऐसा कदापि नहीं करते। अत: इस आक्षेप में कुछ भी तथ्य नहीं है कि स्वामी दयानन्द वेदों को सर्व विद्याओं का मूल बताकर अंधविश्वास के जनक और नवीन विज्ञान की प्रगति में बाधक थे।

लगभग ऐसा ही आक्षेप पं० बलदेव उपाध्याय ने भी किया है। सायण लिखित वेद भाष्यभूमिका संग्रह की प्रस्तावना में आप लिखते हैं—"अपरंचाभी वेदेषु नवीनानामपि आधुनिकैः पाश्चात्य विज्ञान वेदिभि: प्राकाश्यं नीतानामाविष्काराणां धूम्रयान-वायुयान तडिच्छाकटस्वतग्राहादीनां नैव कल्पितां सम्भावनां, अपितु वास्तविकीं सत्तां वेदेमन्यन्ते। सर्वेषामाविष्कृतानां आविष्करिष्यमाणानां च विज्ञान तत्वानामाकरो वेदएवेति तेषामभिमतं मतभिवाव लोक्यते। ···परन्तु एषोऽपि सिद्धान्तो नैव विद्वज्जन मनोरम:।"[१] अर्थात् ये लोग (आर्यसमाजी विद्वान्) वेदों में आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान यथा धूम्रयान, वायुयान, मोटर आदि की सत्ता की वेदों में केवल कल्पना ही नहीं करते अपितु उसे सत्य मानते हैं। इनका मत है कि वेद उन सब विज्ञान के सब तत्त्वों का भण्डार है जो आविष्कृत हो चुके हैं। परन्तु यह मत विद्वानों को मान्य नहीं। अपने अन्य ग्रन्थ "आचार्य सायण और माधव" में भी आपने यही बात लिखी है। "स्वामी जी (के अनुयायी पण्डितों) की सम्मति में वेदों में विज्ञान के द्वारा आविष्कृत समस्त पदार्थ (रेल, तार, वायुयान आदि) की सत्ता बतलाई जाती

---

१. प्रस्तावना पृ० २०

है। तब क्या वेद की महिमा इसी में है कि विज्ञान की समग्र वस्तुओं का वर्णन उसमें उपलब्ध हो, वेद आध्यात्मिक ज्ञान की निधि हैं। भौतिक विज्ञान की वस्तुओं का वर्णन करना उनका वास्तविक उद्देश्य नहीं है। ऐसी दशा में यौगिक प्रक्रिया के अनुसार इन चीजों को वेदों के भीतर बतलाना उचित नहीं जान पड़ता। इस प्रकार स्वामी जी की पद्धति को हम सर्वांश में स्वीकार नहीं कर सकते।"[१]

वैदिक सम्पत्ति नामक वेदविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ के लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा की भी यही सम्मति थी कि जो लोग वेदों तथा अन्य वैदिक साहित्य से रेल, मोटर, बिजली की रोशनी का वर्णन निकालकर यूरोप की वर्तमान भौतिक उन्नति के साथ मेल मिलाते हैं वे गलती करते हैं।[२] यह हमने संक्षेप में उन लोगों के मतों का उल्लेख किया जो स्वामी दयानन्द की इस बात से असहमत हैं कि वेद सब विज्ञान का आदि मूल है।

सायण के प्रति अनुचित पक्षपात प्रदर्शित के कारण पं० बलदेव उपाध्याय ने स्वामी दयानन्द पर यह आक्षेप तो किया परन्तु वे स्वयं इस बात को भूल गये कि सायण ने भी अपने अथर्ववेद भाष्य की भूमिका में उन अनेक विद्याओं का वेद में होना स्वीकार किया है जो स्पष्ट रूप से आध्यात्मिक न होकर भौतिक है। सायण लिखते हैं कि अथर्ववेद में निम्न कर्मों का प्रतिपादन है— "सेनापत्यादि प्रधान पुरुष जय कर्माणि शत्रूत्सादितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्र प्रवेशकानि, राज्याभिषेकः कृषिपुष्टि कराणि, शास्त्राद्यभिघातज रुधिरप्रवाह निरोधकानि, वात, पित्तश्लेष्म भैषज्यानि, शिरोक्षिनासिका कर्ण जिह्वा ग्रीवादि रोग भैषज्यानि, सुख प्रसव कर्माणि, जनानामैकपत्य सम्पादकानि सांमनस्यानि।"[३] इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है। इसमें आप देखेंगे कि सायण ने राजनीति, कृषि, वैद्यक तथा चिकित्सा आदि सभी विद्याओं का वेद में होना स्वीकार किया है। क्या उपाध्याय जी यह कह सकते हैं कि ये विद्यायें आध्यामिक हैं? यदि नहीं तो फिर महर्षि दयानन्द के विज्ञानवाद पर ही उनका आक्रोश क्यों हैं? यदि वेद में, समाज शास्त्र, राजनीति विज्ञान

१. आचार्य सायण और माधव पृ० १२३
२. वैदिक सम्पत्ति की भूमिका
३. अथर्ववेद भाष्यभूमिका पृ० १३६

और शरीर विज्ञान का उल्लेख हो सकता है तो उसमें भौतिकी, रसायन शास्त्र आदि अन्य विद्याओं का मूल मानने में किसी को क्यों आपत्ति होनी चाहिये जब कि उनके उल्लेख बतलाने वाले मन्त्र वेदों में विद्यमान हैं। चारों वेदों के जो चार उपवेद हैं वे भी यही सूचित करते हैं कि वेदों में विज्ञान का मूल अवश्य है तभी तो ऋग्वेद का भूत आयुर्वेद (Science of Medicine and S) यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद (Military Science) सामवेद का उपवेद गांधर्ववेद (Science of Music and Fine arts) तथा अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद (Economics) है।

और आज तो महर्षि दयानन्द के इस मत का समर्थन सभी विद्वान् कर रहे हैं कि वेदों में विज्ञान का अस्तित्व विद्यमान है। योगी अरविंद ने इस विषय पर जो कुछ लिखा है वह मानो आक्षेपकर्ताओं के उत्तर रूप में ही लिखा है। वे कहते हैं—There is nothing fantastic in D ayanand's idea that the Veda containing truths of Science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that the veda contains other truths of science, the modern world does not at all possess, and in that case Dayanand has rather understated than overstated the depth and range of the vedic wisdom."[1] अर्थात् स्वामी दयानन्द के इस विचार में कि वेद में न केवल धर्म के किन्तु विज्ञान के सत्य का भी मूल है, कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। मेरा अपना तो यह भी विश्वास है कि वेद में एक ऐसे विज्ञान की सत्यता का प्रतिपादन है जिससे वर्तमान जगत् सर्वथा अनभिज्ञ है और इस अवस्था में स्वामी दयानंद ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता तथा विस्तार को जताने में न्यूनोक्ति ही की है, अत्युक्ति नहीं। 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक पुस्तक के लेखक श्री दिनकर ने अरविंद की उपर्युक्त सम्मति उद्धृत कर यह आश्चर्य प्रकट किया है कि श्री अरविंद ने दयानन्द का समर्थन कैसे किया?

वास्तव में बात यह है कि वैदिक विज्ञान के जिस सिद्धान्त पर स्वामी दयानन्द पहुँचे थे, उनके पश्चात् उनके परवर्ती वैदिक अनुसंधान में लगे रहने वाले अन्य यूरोपीय तथा भारतीय विद्वान भी उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे और

---

१. Dayanand and the Veda.

उन्होंने मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार किया कि वेदों में विज्ञान का मूल स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। जैकालियट नामक सुप्रसिद्ध विद्वान् ने अपनी Bible in India नामक पुस्तक में लिखा है :

Astonishing fact, the Hindu Revelation (veda) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern Science as it proclaims the slow and gradual formation of the world." अर्थात् यह एक बड़ी ही आश्चर्यजनक बात है कि ईश्वरीय धर्म ग्रन्थ कही जाने वाली पुस्तकों में केवल वेद ही ऐसे हैं जिनके विचार आधुनिक विज्ञान के साथ पूर्णतया संगत हैं, क्योंकि उनमें भी विज्ञान के अनुसार ही जगत की क्रमिक रचना का प्रतिपादन है।

एक अन्य अमरीकन विदुषी श्रीमती ह्वीलर विलोक्स लिखती हैं : We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great vedas. The most remarkable works containing not only religious ideas on a perfect life, but also facts which all the science has since proved true Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to be known to the sires who sound the Vedas "[१]

अर्थात् हम सबने भारत के प्राचीन धर्म के विषय में सुना है और पढ़ा है। यह भारत उन महान वेदों की भूमि हैं जिनके अन्दर न केवल पूर्ण आदर्शमय जीवन के लिए धार्मिक तत्वों का ही निरूपण है, अपितु उन सच्चाईयों का भी निर्देश है जिनको विज्ञान ने सत्य प्रमाणित किया है। वैदिक ऋषियों को विद्युत, रेडियम, इलेक्ट्रोन, हवाई जहाज़ आदि सब बातों का ज्ञान था, यह सम्भव प्रतीत होता है।

यह तो हुई पाश्चात्य विद्वानों की बात। बंगाल के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भी महर्षि दयानन्द के इस सिद्धान्त से पूर्णतया सहमति प्रकट की है और लिखा है। उस समय (उनका तात्पर्य सायण के युग से है—लेखक) जबकि फोटोग्राफी फोनोग्राफी, गैसलाइट, टैलीविजन, टेलीफोन, रेलवे और हवाई जहाजों का प्रचार भारत में नहीं था, किस प्रकार हमारे

१. Sublimity of the vedas, पृ० ८३

भारत देश के लोग (अभिप्राय भाष्यकर्ताओं से है—लेखक) इन मंत्रों के यथार्थ रहस्य को समझ सकते थे, जिनमें कि इन वस्तुओं की ओर संकेत हो।"[१] अतः वेद भाष्यकर्ता की योग्यता का विचार करते हुए सामश्रमी महाशय लिखते हैं—"इसलिए यह स्पष्ट है कि वही मनुष्य वेदों का योग्य भाष्यकार हो सकता है जिसे कि कृषि शास्त्र, व्यापार, भूगर्भशास्त्र, ज्योतिष, जल-स्थिति विद्या, अग्नि विद्या, वनस्पति शास्त्र, जीव शास्त्र, शरीर शास्त्र तथा युद्ध विद्या का पूर्ण ज्ञान हो। ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया भाष्य ही केवल पूर्ण संतोष दे सकता है और सब प्रकार के संशयों को मिटा सकता है।"[१]

सम्मतियों का अधिक विस्तार न करते हु हएम इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि महर्षि दयानन्द ने जिन मंत्रों से भौतिक विज्ञान के विविध आविष्कारों की ओर संकेत किया है उनके उन अर्थों से हमारा मतभेद हो सकता है, परन्तु हम इस सिद्धान्त को ही इस आधार पर बहिष्कृत नहीं कर सकते कि वेद अध्यात्म विद्या का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ हैं। अतः भौतिक विद्याओं से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। यदि सामश्रमी जी की सम्मति को महत्व दिया जाय, और देना ही चाहिए, तो उस दृष्टि से तो सायण जैसा व्यक्ति वेद भाष्य जैसे महत्वपूर्ण कार्य के लिये सर्वथा अयोग्य ही प्रमाणित होगा।

वेद में विज्ञान, विषयक पठनीय साहित्य—

१. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के प्रकरण।
२. वेद और विज्ञानवाद ले० श्री० प्रेमचन्द काव्यतीर्थ।
३. आर्य सिद्धान्त विमर्श में संकलित कविराज पं० ब्रह्मानन्द का 'वेद और पश्चिमी विज्ञान' शीर्षक लेख।

—★—

१. महर्षि दयानन्द कृत वेद भाष्यानुशीलन, पृ० ६५
२. महर्षि दयानन्द कृत वेद भाष्यानुशीलन, पृ० ६६

वेद संज्ञा विचार : क्या ब्राह्मण ग्रंथ वेद है ?

कात्यायन के नाम से एक सूत्र मिलता है—'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम् १ सूत्र का अभिप्राय यह है कि मंत्र और ब्राह्मण की 'वेद' संज्ञा है। स्वामी दयानन्द इससे सहमत थे। उनके विचार से केवल मंत्र भाग की ही 'वेद' संज्ञा है क्योंकि मंत्र-संहिता ही अपौरुषेय और ईश्वर-कृत है, ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषि प्रणीत होने से वेदों के अन्तर्गत नहीं गिने जा सकते। स्वामी दयानन्द ने अपने इस मत को अनेकानेक प्रमाणों और युक्तियों से पुष्ट किया है। ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में उन्होंने पूर्वोद्धृत कात्यायन सूत्र को पूर्वपक्ष में रखते हुए उसका उत्तर दिया है—

मैवं वाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। कुतः पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानामहर्षिभिरूक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कायायनभिन्नऋषिभिर्वेद संज्ञायामस्वीकृत्त्वान्मनुष्य बुद्धिरचितत्त्वच्चेति २।' अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते इसलिए कि (१) उनकी इतिहास पुराण संज्ञा है। (२) वे ऋषियों के बनाये वेदों के व्याख्यान हैं। (३) वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। (४) कात्यायन से भिन्न किसी ऋषि ने उन्हें वेद नहीं कहा। (५) वे मनुष्यों द्वारा रचित हैं।

अपने मत की पुष्टि में महर्षि ने न्यायदर्शन का प्रमाण देने के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदों का व्याख्यान सिद्ध करते हुए लिखा है—ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानात्येन सन्ति, नैव वेदाख्यानीति। कुतः इषे त्वोर्जेत्वेति। (शतपथ का० १ अ ७) इत्यादीनि मन्त्रप्रतिकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यान करणात् १।" अर्थात् ब्राह्मण वेद के व्याख्यान ही हैं क्योंकि शतपथ आदि में 'इषेत्वोर्जे' (यजु० १।१) आदि वेद मन्त्रों की प्रतीकें धर कर उनकी व्याख्यान की गई है, अतः मन्त्र संहितायें ही वेद हैं, ब्राह्मण नहीं।

तत्पश्चात् महाभाष्य का प्रमाण देते है—"केषां शब्दानाम् ? लौकिकानाम् वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिमृगो

ब्राह्मण इति। वैदिका: खल्वपि। शन्नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा। अग्नि मीले पुरोहितम्। अग्नि आयाहि बीतये इति २।" महाभाष्य का यह प्रकरण उद्धृत करने के अनन्तर ऋषि लिखते हैं "यदि ब्राह्मण ग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभुर्त्तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात्। अतएव महाभाष्यकारेण मन्त्रभ गस्यैव वेदसंज्ञांमत्वा प्रथम मंत्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि १।" अर्थात् यदि महाभाष्यकार को ब्राह्मण को वेद मानना अभीष्ट होता तो वह ब्राह्मण ग्रन्थ के भी उदाहरण देता। अत: महाभाष्यकार की सम्पत्ति में मंत्रभाग ही वेद हैं जिनके प्रथम मन्त्रों को उसने प्रतीक रूप में वैदिक शब्दों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रसंग में अष्टाध्यायी के सूत्रों को भी उद्धृत कर उनसे भी मत्रभाग और ब्राह्मण भाग की पृथकता मंत्रों की अपौरुषेयता तथा ब्राह्मणों का ऋषिकृत होना सिद्ध किया है।

इसी विषय को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में भी लिखा है। वहाँ उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि यदि इस तथाकथित कत्यायन वचन को प्रमाण माना जाए तो वेद भी सनातन नहीं हो सकते। क्योंकि ब्राह्मण पुस्तकों में बहुत से ऋषि-महर्षि और राजादि के इतिहास लिखे हैं और इतिहास जिसका हो उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है। अत: वेदों के अन्तर्गत ब्राह्मणों की गणना नहीं हो सकती।

वेद न होने पर भी वेदानुकूल होने से ब्राह्मणों का परीत: प्रमाणत्व सिद्ध है। परन्तु ब्राह्मणों में पर्याप्त प्राशप्त अंशों का समावेश हो जाने के कारण महर्षि ने पादटिप्पणी में लिखा है, "इसमें इतना भेद है कि जो ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा वेद से विरुद्ध हो उसका प्रमाण करना किसको न चाहिए और ब्राह्मण ग्रन्थों से विरोध आवे तो भी वेद का प्रमाण होता है।" ऐसी ही टिप्पणी महर्षि ने संस्कारविधि के वेदारम्भ प्रकरण में भी दी है जिसमें लिखा है कि जो सूत्र का ब्राह्मण वेद विरुद्ध हिंसापरक हो उसका प्रमाण नहीं करना चाहिए २। महर्षि का उद्देश्य स्पष्ट है। वेदों को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थों में समय-समय पर प्रक्षेप किये गए हैं। अत: उनसे सावधान रहना आवश्यक है। वेद के प्रत्येक अक्षर और पंक्ति तक की सुरक्षा बड़ी सावधानी से की गई। जटा पाठ माला पाठ, घन-पाठ, पद-पाठ आदि विविध उपायों से वेद मन्त्रों के क्रम की रक्षा की गई। अत: उनमें कभी कोई प्रक्षेप करने का साहस नहीं कर सका। पं० रघुनन्दन शर्मा ने अपने ग्रन्थ वैदिक सम्पत्ति में जो वेदों में प्रक्षेप बतलाये हैं उनका

समाधान स्व० महात्मा नारायण स्वामी ने कर दिया था ३। जो स्थिति ब्राह्मणों की है वही उपनिषदों और आरण्यकों की भी समझनी चाहिए, क्योंकि उपनिषद आदि भी ब्राह्मणों के ही अन्तर्गत आते हैं। स्वामी जी ने उपनिषदादि की आध्यात्मिक महत्ता स्वीकार करने पर भी उन्हें वेदों के तुल्य महत्त्व नहीं दिया और न शंकराचार्य की तरह उन्हें 'श्रुति' संज्ञा ही प्रदान की।

सायण का इस विषय में महर्षि दयानन्द से मतभेद है। उसने अपने युग में प्रचलित धारणा के अनुसार मंत्र और ब्राह्मण दोनों को ही वेद माना है। यद्यपि एक स्थान पर उसने ब्राह्मणों को मन्त्रों का व्याख्यान भी स्वीकार किया है परन्तु तो भी वेद सम्बन्धी क्रांतदर्शी प्रतिभा के अभाव में वह मंत्र और ब्राह्मण के भेद का निर्णय नहीं कर सका। ऋग्वेदभाष्यो क्रमणिका में उसने वेद का लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है—मंत्र ब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम् अतएव आपस्तम्बो यज्ञ परिभाषायामेवमाह—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदना धेयमिति २।' अर्थात् वेद का अदृष्ट लक्षण है उसका मन्त्रब्राह्मणात्मक होना जैसा कि आपस्तम्बकृत यज्ञ परिभाषा में लिखा है—मंत्र ब्राह्मणयोर्वेदनाम्धेयम्। श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने निबन्ध 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। इत्यत्र कश्चिद् अभिनवो विचारः।' में यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि उक्त सूत्र को आपस्तम्ब आदि उन्हीं श्रौत्र सूत्रकारों ने उद्धृत किया है जो कृष्णयजुर्वेदशाखा के अनुयायी हैं। यह सभी जानते हैं कि कृष्ण-यजुर्वेद में ब्राह्मणात्मक भाग का भी मिश्रण अतः अपनी मान्य कृष्णयजु शाखा को वेदात्मक सिद्ध करने के लिए ही ऐसे लोगों ने मन्त्र और ब्राह्मण को वेदसंज्ञा कही है। अन्यथा ऋग्वेद शुक्ल यजुर्वेद और सामवेद से सम्बन्ध किसी श्रौत सूत्रकार ने यह सूत्र नहीं पढ़ा। सायण स्वयं कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अनुयायी था। अतः इस सूत्र को उद्धृत कर तैत्तिरीय शाखा को वेद सिद्ध करना उसके लिए स्वाभाविक ही था।

सायण के प्रशंसक विद्वान् पं० बलदेव उपाध्याय ब्राह्मण ग्रन्थों के वेद होने के समर्थन में जो तर्क दिया है वह अधिक महत्व का नहीं है। आप लिखते हैं—'तैत्तिरीय संहिता (शाखा) में मन्त्रों के साथ-साथ गद्यात्मक ब्राह्मण अंश भी उपलब्ध होता है। तब तैत्तिरीय संहिता के एक अंश को श्रुति मानना और तदन्तर्गत ब्राह्मण भाग को श्रुति न मानना कहाँ तक न्याय होगा।' उपाध्याय जी को यह जानना चाहिए कि स्वामी दयानन्द के मत में शाखायें (जिन्हें

वे संहिताएँ कहते हैं) मूल वैदिक संहिताओं से पृथक् हैं । इस दृष्टि से तैत्तिरीय शाखा को मूल यजुर्वेद न मानकर उसकी एक शाखा मानना ही उचित है और यह सर्वसम्मत बात है कि शाखाओं का प्रवचन ऋषियों ने ही किया था। अतः शाखायें ऋषिकृत पौरुषेय हुई और संहिता भाग ईश्वरकृत अपौरुषेय सिद्ध हुआ। प्रसिद्ध विद्वान् पं० रघुनन्दन शर्मा ने अपने ग्रन्थ वैदिक सम्पत्ति में अत्यन्त परिश्रम पूर्वक यह सिद्ध कर दिया है कि वर्तमान में उपलब्ध यजुर्वेद को माध्यन्दिन शास्त्र ही यजुर्वेद की मूल संहिता है । कृष्णयजुर्वेद और उसकी तैत्तिरीय शाखा का जो विवरण उक्त पंडित जी ने दिया है, उसे देखने से तो कृष्णयजुर्वेद का समग्र साहित्य ही अविश्वसनीय और अप्रामाणिक सिद्ध होता है परन्तु यदि हम इतनी दूर तक न जायें तो भी हमें तैत्तिरीय संहिता (जिसमें गद्यात्मक ब्राह्मण भाग का मिश्रण है) को शाखा ही मानना पड़ेगा और उसे मूल वैदिक संहिता की संज्ञा नहीं दी जा सकेगी। महर्षि दयानन्द ने जहाँ शाखाओं को वेदों का व्याख्यान कहा है वहाँ उनका अभिप्राय यही था कि शाखा प्रवर्तक ऋषियों ने वेद मन्त्रों के अर्थों को सुगम तथा समझाने के लिए मूल मन्त्रों में यथोचित परिवर्तन कर विभिन्न शाखाओं का प्रवर्तन किया था। उदाहणार्थ, मूल मन्त्र के 'एष: वो भरतो राजा' के स्थान पर 'एष: वो भरतो राजा एष: वो कुरवो राजा' जैसे लौकिक राजाओं के उदाहरण रख देना ही शाखा प्रवचन की विशेषता थी। इसी दृष्टि से शाखायें वेदों का व्याख्यान है और इसी कारण तैत्तिरीय शाखा में गद्यात्मक ब्राह्मण भाग का मिश्रण हुआ उसके अतिरिक्त तैत्तिरीय शाखा में जो मन्त्र हैं वे तो मूल यजुर्वेद के ही हैं।

देखना यह है कि यदि ब्राह्मणों को वेदों की संज्ञा दे दी जाती है तो उससे क्या-क्या सम्भावनायें उठ खड़ी हो सकती हैं। प्रथम तो महर्षि दयानन्द ने ही स्पष्ट कर दिया है कि ऋषिकृत ब्राह्मण ग्रन्थों को अपौरुषेय मन्त्र भाग के तुल्य स्थान दिया ही नहीं जा सकता। ब्राह्मणों में राजाओं, ऋषियों और जनपदों का अनित्य इतिहास विद्यमान है। उसकी विद्यमानता से ब्राह्मणों की अनित्यता और उनका मनुष्य कर्तृत्व होना स्वतः सिद्ध है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थों को भी अपौरुषेय मान लिया जाता है तो वेद में भी अनित्य इतिहास की सत्ता माननी पड़ेगी और उसके मानने पर वेद की नित्यता नष्ट हो जायेगी। यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि परमात्मा ने अपनी सर्वज्ञता अथवा भविष्यज्ञता के बल पर वेदों में अनित्य इतिहास लिख दिया। वेदों को नित्य मानना और

साथ-साथ उनमें लौकिक इतिहास को भी स्वीकार करना ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं चल सकतीं। सायण की यह मौलिक त्रुटि ही समझी जानी चाहिए कि वह वेदों को ईश्वरीय नित्य ज्ञान मानता हुआ भी ब्राह्मणों की उसके अन्तर्गत गणना करता है। ऐसी दशा में हमें उनके विचारों और मन्तव्यों में किसी प्रकार की संगति और सुव्यवस्थित विचार प्रणाली के दर्शन नहीं होते। वेदों के प्रति अपार श्रद्धा और भक्ति का भव रखते हुए भी सायण वेदों का प्रज्जवल रूप जन-समाज के सम्मुख रखने में असमर्थ हुए। कारण यही था कि उसके वेद सम्बन्धी विचारों में किसी प्रकार की तार्किक संगति नहीं थी। ऋषि दयानन्द की यह विशेषता ही समझनी चाहिए कि उन्होंने अपनी वेद सम्बन्धी धारणाओं और मान्यताओं को युक्तियुक्त और तर्कसम्मत प्रणाली प्रस्तुत करना आवश्यक समझा। यही कारण था कि वे वेद के आधार पर एक सुव्यवस्थित और सुनियंत्रित धर्मांदोलन का संचालन कर सके, और उसी को नींव बनाकर एक बृहद् सुधार कार्य का प्रारम्भ कर सके।

—✶—

क्या वेद में इतिहास है !

यास्क ने अपने ग्रंथ निरुक्त में वेदार्थ-सम्बन्धी जिन विविध वादों और सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, उनमें 'इतिहासवाद' को मानने वाले ऐतिहासिक सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान है ! वेद में इतिहास से साधारणत: यह समझा जाता है कि वेद मंत्रों में अनेक स्थानों पर जिन प्रतीयमान राजाओं, ऋषियों, जनपदों, नगरों, उपनगरों तथा पर्वतों आदि का उल्लेख मिलता है वे वस्तुतः ऐतिहासिक व भौगोलिक अस्तित्व धारी राजा, ऋषि, जनपद, नगर और पर्वत आदि थे। यूरोपीय विद्वानों और उनका अनुकरण करने वाले कुछ भारतीय मनीषियों का यही मत है। उनके अनुसार वेदों में सुदास, दिवोदास आदि राज, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषि, कुरु भरत आदि जनपद, गंगा, यमुना आदि

नदी तथा हिमवान, मूजवान आदि पर्वतों का वर्णन आता है और उनके विचार से इन मंत्रों के द्वारा भारत के पुरातन इतिहास के तिमिराछन्न काल को प्रकाश में लाया जा सकता है।

मध्यकालीन और आधुनिक पौरणिकों का विचार कुछ भिन्न है। वेद में आये इन कथित ऐतिहासिक नामों को ज्यों का त्यों ऐतिहासिक स्वीकार कर लेने पर भी उनके वेद के नित्यत्व और अपौरुषेयत्व सम्बन्धी सिद्धान्त को आँच नहीं आती क्योंकि वे मानते हैं कि त्रिकालज्ञ परमात्मा के लिए सृष्टि के प्रारंभ काल में ही वेद मंत्रों में भावी ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों का इतिहास लिख देना जरा भी असम्भव नहीं। इसलिए सायण आदि भाष्यकार, जैसा कि हम आगे देखेंगे, वेद को परमात्मा का नित्य ज्ञान स्वीकार करते हुए भी कहीं-कहीं वेद मंत्रों का ऐतिहासिक अर्थ करने लग जाते हैं।

परन्तु इस दृष्टिकोण से वेद में इतिहास की समस्या का समुचित समाधान नहीं होता। महर्षि दयानन्द और उनके अनुयायी विद्वानों का दृष्टिकोण उससे भिन्न है। वे मानते हैं कि वेद ईश्वर का नित्य ज्ञान है जो प्रत्येक सृष्टि के प्रारंभकाल में मानव जाति के हितार्थ ऋषियों के अन्तःकरण में प्रादुर्भूत होता है। इस मान्यता को स्वीकार करने के अनन्तर यह मानना कठिन हो जाता है कि वेद में उन घटनाओं का भी अस्तित्व पाया जा सकता है जो वेदोत्पत्ति से शताब्दियों ही नहीं, सहस्राब्दियों पश्चात् इस देश में घटित हुईं। ईश्वर की सर्वज्ञता के नाम पर भी इसका समाधान नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में यही मानना उचित है कि वेद में जो नाम ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं, उनका वास्तविक अर्थ कुछ और ही है।

प्राचीन ऋषियों के सम्मुख भी यह समस्या आई थी। ऋग्वेद के मंत्र १।३२।१० पर विचार करते हुए महर्षि यास्क अपने निरुक्त में लिखते हैं— "तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रो ऽसुर इत्यैतिहासिका अपांच ज्योतिषश्च मिश्री भावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।" अर्थात् यहाँ इस मंत्र में वृत्र कौन है? नैरुक्तों के मत में मेघ ही वृत्र है। ऐतिहासिकों के मत में त्वष्टा का असुर वृत्र है। जलीय विद्युत् तथा सूर्य के मिलने से वर्षा होती है। मंत्र में जो इन्द्र और वृत्र के युद्ध का वर्णन है वह उपमा रूप से है न कि किन्हीं वास्तविक मनुष्यों का युद्ध है। यास्क के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐतिहासिक सम्प्रदाय के वेदार्थकर्त्ता ऋषि प्राकृतिक घटनाओं

का वर्णन मनुष्यों के कार्यों की उपमा देकर किया करते थे, परन्तु उन मंत्रों में वस्तुत: कोई इतिहास नहीं रहता था।

अब यह देखना चाहिये कि यास्क के मत में, उपमा, रूप, युद्ध तथा अन्य इतिहास और आख्यानों को क्यों कहा गया है ? इसका समाधान करते हुए स्वयं यास्क लिखते हैं—"ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" अर्थात् मंत्रार्थों के दृष्टा ऋषियों की आख्यान अथवा इतिहास को लेकर मंत्रार्थ कहने में प्रीति होती है। यास्क के कथन का अभिप्राय यह है कि मंत्र में निगूढ़ तत्व को समझने के लिए ऋषियों ने आख्यानों और इतिहासों की कल्पना की है क्योंकि ऐसा करके वे मंत्रगत तत्व को अधिक सरस और सुगम बना देते है। परन्तु इससे मंत्रों का नित्यत्व और परमार्थ निरूपक स्वरूप नष्ट नहीं होता। निरुक्त के भाष्यकार स्कंद स्वामी लिखते हैं—"ओपचारकोयं मंत्रेष्वाख्यानसमय: परमार्थनित्यपक्ष इति सद्धम्।" अर्थात् मन्त्रों में ऐतिहासिक आख्यान का वेद तो गौण है। परमार्थ में तो वेद के नित्यपक्ष ही है। लगभग ऐसी ही सम्मति निरुक्त के दूसरे भाष्यकार आचार्य दुर्गाचार्य की भी है। उन्होंने भी इतिहास को गौण ही माना है।

मीमांसा के आचार्य जैमिनी ने वेद के नित्यत्व पक्ष का स्थापन करते समय इस बात पर विचार किया कि वेद में जन्म मरण वाले अनित्य व्यक्तियों का इतिहास रहते, वह नित्य कैसे हो सकता है ? अत: उन्होंने पूर्वपक्ष का सूत्र लिखा-अनित्य दर्शनाच्च। पुन: इसके समाधान में लिखते हैं—'आख्यान प्रवचनात्' अर्थात् वेद में काठकादि नाम अध्यापन के कारण आये हैं उनका समाधान यह है—'परन्तु श्रुति सामान्यमात्रं' अर्थात् श्रुति में ये शब्द सामान्य अर्थों में आते हैं, विशेष व्यक्तियों के लिए नहीं। मीमांसाकार का अभिप्राय यह है कि वेद मंत्रों में जो नाम हमें किसी व्यक्ति-विशेष के दीख पड़ते हैं, वस्तुत: वहाँ वे सामान्य अर्थ के ही वाचक हैं, क्योंकि वेदों से ही नाम लेकर पश्चात्-वर्ती मनुष्य समाज ने भिन्न भिन्न वस्तुओं और पदार्थों का नामकरण किया है। मनु का निम्न प्रमाण दृष्टव्य है—सर्वेषां तु स नामा न कर्मांणि च पृथक् पृथक्। वेद शब्देभ्य: एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्मसे॥

यहाँ एक और बात भी स्मरण रखनी चाहिए। मीमांसा सूत्र के भाष्य कार, वृत्तिकार तथा वर्तिककार आदि पश्चात्वर्ती मीमांस को ने उपर्युक्त जैम-नीय सूत्रों की व्याख्या के लिए ब्राह्मणोक्त नामों का उल्लेख करके उनको भी

नित्य पदार्थ माना है, ऐतिहासिक नहीं। इसका कारण यह है कि ये ब्राह्मणों को भी वेदों की ही संज्ञा देते थे और संहिता के तुल्य ब्राह्मण भाग को भी नित्य और अनादि मानते थे। ऐसी स्थिति में जब ब्राह्मण वर्णित वास्तविक इतिहास भी मीमांसकों की दृष्टि में नित्य है तो संहिताओं में आये तथा कथित प्रतीयमान नामों और शब्दों में नित्य होने में तो आशंका करनी ही व्यर्थ है।

यह हर्ष और संतोष का विषय है कि आचार्य सायण ने भी अपनी ऋग्-वेदभाष्य उपक्रमणिका में मीमांसा के ऊपर निर्दिष्ट सूत्रों का अर्थ हमारे मत के अनुकूल ही किया है। मीमांसा के १।१।३१ सूत्र को उद्धृत करने के अनन्तर सायण लिखते हैं—'यत् परम् बबरादिकं तच्छब्द सामान्यमेव। न तु मनुष्यो बबर नामको अत्र विवक्षितः। बबर ध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्व भावस्य वायोरत्र वक्तुंशक्यत्वात्।" अर्थात् यहाँ बबर सामान्य शब्द है। यहाँ किसी बबर संज्ञक पुरुष की कल्पना असमीचीन होगी। बबर ध्वनि युक्त और प्रवहण (बहने) स्वभाव वाला वायु ही यहाँ अभीष्ट है। अत्यन्त आश्चर्य तो तब होता है जब हम देखते हैं कि वेद भाष्यभूमिका में ऐसी प्रतिज्ञा करने के पश्चात् भी सायण वेद में अनित्य इतिहासों का प्रतिपादन करते हैं।

महर्षि दयानन्द के इस विषयक विचारों का हम संकेत पूर्व ही कर चुके हैं। उन्होंने अपनी ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के 'ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य' नामक प्रकरण में इस विषय पर अत्यन्त विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है, जिसमें उन्होंने यह बतलाया है कि वेदों और ब्राह्मणों के अनेकानेक प्रसंगों का वास्तविक अभिप्राय न समझकर कालान्तर में लोगों ने उनके नाम से किस प्रकार के पौराणिक कथा-प्रसंगों की कल्पना कर ली। इसी प्रकरण में उन्होंने देवसुर संग्राम और इन्द्र वृत्रासुर युद्ध आदि की इतिहास प्रतीत होने वाली घटनाओं का वास्तविक अर्थ समझाया है और यह सिद्ध किया है कि जो लोग इन प्राकृतिक घटनाओं का रहस्य न समझकर इतिहास की कल्पना कर लेते हैं उनकी धारणाएँ कितनी मिथ्या और अलीक हैं।

इसी प्रकार 'इमं मे गंगे यमुने' आदि मंत्रों में जो भारत की गंगा यमुना आदि नदियों का अस्तित्व मानकर वेदों में भारतीय नदियों का वर्णन देखते हैं उनका समाधान करते हुए ऋषि लिखते हैं "इडापिंगला सुषुम्णाकूर्मनाड्यादीनां गंगादि संज्ञास्तीति। तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात्। तस्य ध्यानंदुःख-नाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव।" अर्थात् इडा पिंगला, सुषुम्णा आदि नाड़ियों की

ही गंगा यमुना आदि संज्ञा है। उनमें योग समाधिपूर्वक ईश्वराधन करने से मनुष्य की मुक्ति होती है। स्पष्ट है कि महर्षि वेदों में गंगा, यमुना आदि भारतीय नदियों का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते।

महर्षि की तुलना में हम जब सायण को उपस्थित करते हैं तो देखते हैं कि सायण की स्थिति बड़ी विचित्र है। एक ओर तो वह यास्कीय निरुक्त को अपना पथ-प्रदर्शक मानकर मीमांसा के अनुसार वेद में प्रयुक्त हुए तथाकथित ऐतिहासिक नामों का यौगिक अर्थ करता है, परन्तु अधिकांश में वह रूढ़ की बलवत्ता स्वीकार करते हुए वेद-मंत्रों का यथेष्ट इतिहासपरक अर्थ भी करता है। वेद को नित्य मानते हुए भी अनित्य इतिहासपरक अर्थ करना सायण के विचारों की अपरिपक्वता तो सूचित करता ही है, साथ ही वह इस बात का भी द्योतक है कि सायण यास्कीय नैरुक्त प्रक्रिया के गौरव और महत्व को पूर्ण-रीति से हृदय नहीं कर सका था अन्यथा वह पौराणिक गाथाओं के व्यूह जाल से वेद रूपी बाल सौभद्र को अवश्य मुक्त करता। यदि स्वामी दयानन्द की ही भांति सायण ने भी नैरुक्त प्रक्रिया का दृढ़ता से पालन किया होता तो उसे भी समस्त ऐतिहासक प्रतीत होने वाले नामों की आलंकारिक विधि से नित्य पदार्थों के वाचक अर्थ करने की क्षमता प्राप्त हो जाती।

अब हम सायण भाष्य से कुछ उदाहरण ऐसे प्रस्तुत करेंगे जहाँ निरुक्तकार यास्क का अनुसरण करते हुए उन्होंने वेद मंत्रों के नित्य अर्थ किये हैं। सामवेद के कुछ मंत्रों के सायण भाष्य का निर्देश करते हुए पं० जयदेव जी शर्मा विद्यालंकार ने बताया है, कि यहाँ सायण ने मूल मंत्र में भूतकाल वाले लिट्लकार का प्रयोग होने पर भी उसका अर्थ लट् वर्तमान के रूप में किया है। इसका कारण यह है कि महर्षि पाणिनि के अनुसार यह मानते हैं कि वेद मत्रों में भूतकाल वाचीक्रियापद होने पर भी उसका अर्थ भूतकाल की क्रिया में नहीं होता। कारण यह है कि वेद-शाश्वत सत्यों का प्रतिपादन करते हैं। सायण ने कहीं-कहीं यास्क के प्रभाव से यौगिक अर्थ किये हैं, इसे कोई अस्वीकार नहीं करेगा। 'तृत्सु' ऐतिहासिक शब्द समझा जाता है परन्तु सायण ने ऋग्वेद ७।१८।७ के भाष्य में हिंसकों को तृत्सु लखा है—'तृत्सुभ्यः हिंसकेभ्यः' परन्तु ऐसे उदाहरण अत्यन्त कम हैं। अधिकांश में सायण ने ऐतिहासिक अर्थ ही किये हैं और जहाँ कहीं कोई ऐतिहासिक पद मिला है वहाँ उसने किसी न किसी काल्पनिक घटना के घटने में ही अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखाया है। परन्तु सर्वत्र ऐतिहासिक

घटनाओं का जाल रचना भी अपने आपमें खटकने वाली बात थी। अतः स्थान-स्थान पर 'यद्वा' कहकर मंत्रों में प्रयुक्त शब्दों का यौगिक अर्थ भी वह पहले पीछे देता रहा है। परन्तु यह निश्चित है कि सायण इतिहास का मोह नहीं छोड़ सका।

इसी प्रकार ऋग्वेद में 'सुदास' नाम अपने पर सायण ने निराधार ही पैजवनं सुदाश्म्, पैजवनस्य सुदास्य राज्ञः, 'सुदासे रात्रे पैजवन पुत्राय' आदि पैजवन के पुत्र सुदास नामक राजा की कल्पना कर ली है। ऋग्वेद ३।५३।९ के अर्थ में सायण ने इतिहास कल्पित करते हुए लिखा—विश्वामित्र ने सुदास राजा को जब यज्ञ कराया तब इन्द्र कुशकों से उनके प्रिय के समान आचरण करने लगा। वस्तुतः सुदास 'सुदाता' अर्थात् सुन्दर दान देने वाले राजा का वाचक है।

ऋग्वेद ७।९५।२ मंत्र का अर्थ करते हुए लिखा—"सहस्रवत्सरेण क्रतुना यक्ष्यमाणो नहुषो नाम राजा सरस्वती नदीं प्रार्थयामास।" हजार वर्ष तक चलने वाले यज्ञ करने के इच्छुक नाहुष राजा ने सरस्वती नदी से प्रार्थना की। मूल मंत्र में नाहुष और सरस्वती जैसे शब्दों को देखकर ही सायण को इस प्रकार के इतिहास को कल्पित करने का साहस हुआ। वस्तुतः निघण्टु में 'नहुष' मनुष्य का पर्यायवाची है। अतः इस सामान्य मनुष्य अर्थ को लेना ही उचित था।

ऐसे और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं परन्तु लेख की कलेवर-वृद्धि के भय से हम ऐसा करना उचित नहीं समझते। इतिहास को लेकर आचार्य सायण और महर्षि दयानन्द के मन्तव्य में क्या अन्तर है, इसे विवक्षित करना ही हमारा अभिप्राय था। निष्कर्षरूप में हम यही कह सकते हैं कि यद्यपि वेद की नित्यता और अपौरुषेयता का प्रतिपादन करना ही सायण और दयानन्द दोनों का उद्देश्य था, परन्तु दयानन्द ने इस प्रतिज्ञा का जितनी दृढ़ता से पालन किया उतनी दृढ़ता से सायण नहीं कर सके।

—✶—

आचार्य सायण और ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन

प्राक्कथन—मध्यकालीन वेदभाष्यकारों में विजयनगर राज्य के प्रधानमंत्री आचार्य सायण अपना पृथक् महत्व रखते है। उन्होंने अधिकांश ब्राह्मणों और आरण्यकों तथा शाखाओं पर भाष्य लिखे तथा चारों वेदों पर भी विस्तृत भाष्यों की रचना की। भाष्य लेखन से पूर्व उन्होंने प्रत्येक भाष्य की पृथक्-पृथक् भूमिकायें भी लिखी हैं। इस प्रकार की सभी वेदभाष्य भूमिकाओं का संग्रह एक अंग्रेज़ी इन्ट्रोडक्शन के सहित पं० बलदेव उपाध्याय ने चौखम्भा संस्कृत सीरीज में प्रकाशित कराया है। अभी हाल ही में सायण-कृत ऋग्वेद भाष्य भूमिका भी हिन्दी अनुवाद सहित चौखम्भा विद्या भवन से ही प्रकाशित हुई है।

सायण ने जिस युग में वेदभाष्य लिखा उस समय वेदों के प्रति विद्वन्मण्डल का एक निश्चित दृष्टिकोण था। यह समझा जाता था कि वेदों का उद्देश्य यज्ञ कर्म मे सहायक होना ही है। यों तो अनादिकाल से वेद की विविध व्याख्यायें जनसमाज में प्रचलित थीं और निरुक्तकार यास्क ने ही अपने ग्रन्थ में वेदार्थ की जिन प्रमुख प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है उनमें निम्न उल्लेखनीय हैं—(१) आधिदैवत (२) अध्यात्म (३) आख्यानसमय (४) ऐतिहासिक (५) नैदान (६) नैरुक्त (७) परिव्राजक (८) पूर्वयाज्ञिक (९) याज्ञिक। इनमें से अन्तिम अर्थात् वेद की याज्ञिक व्याख्या का ही प्रचलन सायण के युग में था। यों भी मीमांसा के आधार पर जिस युग में यज्ञयागादि कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ उसमें वेदों को ही प्रधान आधार बनाया गया और सायण ने इसी आधार पर अपनी काण्वसंहिता भाष्य उपक्रमणिका में लिखा—"अतः कर्माणि वेदस्य विषयः। तदवबोधः प्रयोजनम्" अर्थात् वेद का विषय कर्म ही है। उनकी जानकारी देना ही उसका प्रयोजन है। अतः जिस समय

हम सायण के वेद-विषयक दृष्टिकोण की समीक्षा करते हैं तो हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि उसका दृष्टिकोण पर्याप्त संकुचित था। वेद को ईश्वरीय अपौरुषेय ज्ञान मानते हुए तथा सर्व विद्याओं का भण्डार स्वीकारते हुए भी सायण ने वेद का उपयोग और महत्त्व कर्म में ही माना है।

इसके विपरीत महर्षि दयानन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी में वेदों के लुप्त पठन-पाठन का पुनरुद्धार करते समय वेदों के प्रति जो दृष्टिकोण उपस्थित किया वह अधिक विशद, विस्तृत और उदार था। यद्यपि उन्होंने इस बात को नहीं कहा कि वेद में कर्मकाण्ड का उल्लेख नहीं है, परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी घोषणा की कि वेद के आधार पर कर्मकाण्ड का निरूपण ब्राह्मण ग्रन्थों, पूर्व-मीमांसादि शास्त्रों तथा सूत्र ग्रन्थों में हो चुका है। अतः उसका पुनः उल्लेख करना पिष्टपेषण के तुल्य ही है। अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के 'प्रतिज्ञा विषय' के अन्तर्गत वे लिखते हैं—

"अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः। कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथब्राह्मण-पूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थविनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृत-ग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।" पृ० ४५८ (सार्वदेशिक प्रकाशन का संस्करण)।

महर्षि का यह वक्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने इसमें निम्न बातें कही हैं—

(१) इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थ के द्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे।

(२) परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमंत्रों में से जहाँ-जहाँ जो-जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्त पर्यन्त करने चाहियें, उनका वर्णन यहाँ नहीं किया जाएगा। क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शत-पथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत तथा गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है। उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ सकता है। महर्षि के इस कथन से अर्थापत्ति प्रमाण से हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि स्वामी दयानन्द का यह लेख एक

ऋषि का लेख है। उनका वेदभाष्य भी आर्ष है क्योंकि वे स्वयं ही कहते हैं—अनार्ष ग्रन्थों में ही पुनरुक्ति का दोष होता है तथा इस दोष से मुक्त होने के कारण उनका यह भाष्य ऋषिकृत भाष्य है। अस्तु !

यहाँ ऋषि ने विनियोग के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात कह दी है जो प्रदीपवत् कर्मकाण्ड के क्षेत्र में हमारा मार्गदर्शन कर सकती है। ऋषि लिखते हैं कि विनियोग वही ग्राह्य हैं जो—

(१) युक्ति सिद्ध हों।
(२) वेदादि प्रमाणों के अनुकूल हों।
(३) मन्त्रार्थ का अनुसरण करते हों।
(४) मन्त्रों में उक्त हों।

ये हैं चार कसौटियाँ जिनके आधार पर हम विनियोगों की सत्यता की परीक्षा कर सकते हैं। उसी कसौटी पर कसे जाने के पश्चात् अधिकांश विनियोग जो पौराणिक ग्रन्थों में मिलते हैं अथवा प्राचीन कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में भी कालान्तर में प्रक्षिप्त हो गये है, मिथ्या ठहरते हैं। हम एक ही उदाहरण से इसको स्पष्ट करते हैं। 'शन्नोदेवी०' इस प्रसिद्ध मंत्र से पौराणिक लोग शनैश्चर नामक ग्रह की पूजा करते हैं। अब इस मंत्र से इस कल्पित देवता को पूजना युक्तिविरुद्ध तो है ही वेदादि शास्त्रों में भी उसकी पूजा का कोई विधान नहीं मिलता। शनि की पूजा में मंत्रार्थ भी घटित नहीं होता और न यह विषय मंत्र में ही उक्त है। अतः यह विनियोग सर्वथा कपोल कल्पित होने से अग्राह्य हुआ।

इस विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य करते समय जो आर्ष दृष्टि अपनाई वह सायण के लिए सर्वथा दुर्लभ थी। सायण का वेदार्थ एकांगी, यज्ञपरक, संकुचित तथा साम्प्रदायिक भावनाओं से दूषित है। अपने कथन को सिद्ध करने के लिए हम सायण की ऋग्वेद भाष्यभूमिका की विस्तार से आलोचना करेंगे और यत्रतत्र तुलना में ऋषि की भूमिका को भी प्रस्तुत करेंगे।

मंगलाचरण प्रसंग—सर्वप्रथम हम सायणकृत भूमिका में जो पौराणिक गणपति देवता का मंगलाचरण है उसकी समीक्षा करते हैं। सायण का प्रथम मंगल श्लोक है—

वागीशाद्या: सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ।।

अर्थात् ब्रह्मादि देवता सब प्रकार के कार्यों के आरम्भ में जिसको नमनकर कृतकृत्य होते हैं ऐसे हाथी के मुख वाले गणेश जी को मैं प्रणाम करता हूँ। यह है सायण का अनार्ष मंगलाचरण ऐसे साम्प्रदायिक मंगलाचरणों की आलोचना महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में ही की है। जिस गजानन, गणेश की स्तुति सायण करते हैं वह एक अवैदिक अनार्ष देवता है जिसका यथार्थ वृत्त डा० सम्पूर्णानन्द लिखित 'गणेश' नामक गवेषणात्मक ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। इसके विपरीत ऋषि दयानन्द ने आरम्भ में—

ओ३म् सहनाववतु सह नौ भुनक्त सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

यह उपनिषद् प्रोक्त मंगल वचन लिखा है। इसके पश्चात् स्वनिर्मित संस्कृत श्लोक[1] में उस ब्रह्म की वंदना की है जो अनन्त, अनादि आदि विशेषणों से युक्त है तथा जिसकी सनातन वेदविद्या अधर्म का ध्वंस करने वाली तथा सौभाग्य प्रदान करने वाली है।

इसी प्रसंग में एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिये कि सायण ने जो भाष्य लिखा है वह अपने स्वामी विजयनगर नरेश बुक्कराय की आज्ञापालन के लिए ही लिखा था। उनका यह कार्य राजा द्वारा निर्दिष्ट तथा राजाश्रित होने के कारण उस प्रकार का लेख 'लोक हिताय' नहीं था जैसा कि ऋषि का। इसके विपरीत महर्षि तो स्वनिर्मित श्लोक संख्या ४ में कहते हैं—

मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः ।
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥

अर्थात् मनुष्य मात्र के हित के लिए तथा सत्यार्थ के प्रकाश के लिए मैं ईश्वर के अनुग्रह से इस वेद भाष्य को लिखता हूँ। लेखक की मनोवृत्ति का भी उसकी रचना पर असर पड़ता ही है। महर्षि का भाष्य जहाँ मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए तथा सत्पथ प्रदर्शन के लिए लिखा गया वहाँ सायण का भाष्य केवल राजा की तुष्टि के लिए ही, जैसा कि वह स्वयं कहता है—

---

१. ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं आदि ।

यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशद् माधवाचार्यः वेदार्थस्य प्रकाशने ।।

महर्षि ने इन्हीं मंगल-श्लोकों में अपने वेदभाष्य के कुछ और भी प्रयोजन बताये हैं तथा यह भी कहा है कि पुरातन आर्य ऋषियों की जो सनातनी व्याख्या रीति है उसी को आधार बनाकर यह भाष्य लिखा जायगा।[२] वे यह भी कहते हैं कि यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अबतक के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायेंगे ?[३]

सम्भवतः ऋषि से पूर्व के किसी भी भाष्यकार ने वेद के ऊपर लगाये जाने वाले मिथ्या लांछनों से उसे मुक्त करने का प्रयास नहीं किया। इसके विपरीत सायणादि मध्यकालीन और वर्तमान यूरोपीय वेद व्याख्याकारों के प्रयत्न से तो वेद के गौरव को क्षति ही पहुँची है।

—✶—

आचार्य सायण और ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन

(२)

ऋग्वेदभाष्यभूमिका के मंगल श्लोकों में आचार्य सायण लिखते हैं—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ होत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ।।

---

२. आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ।।

३. येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः। दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थवर्णनाः ।।

अर्थात् यज्ञ के कार्यों में अध्वर्यु ऋत्विक् सम्बन्धी कर्म के प्रधान होने के कारण पहले यजुर्वेद का व्याख्यान किया अब होता नामक ऋत्विक् सम्बन्धी कर्म के लिए ऋग्वेद का व्याख्यान करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि सायण की दृष्टि में वेदों का महत्त्व उनके यज्ञोपयोगी होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तभी तो उन्होंने चारों वेदों को क्रमशः होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के लिए उपयोगी माना और यज्ञकर्म में अध्वर्यु की प्रधानता को देखकर ऋग्वेद से पूर्व यजुर्वेद का व्याख्यान किया।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका के प्रारम्भ में ही उसने यह पूर्वपक्ष बड़े विस्तार से उठाया है कि जहाँ कहीं भी वेदों की चर्चा हुई है, वहाँ ऋग्वेद का उल्लेख ही सर्वप्रथम हुआ है। फिर उसे प्राथमिकता न देकर यजुर्वेद की व्याख्या को महत्त्व क्यों दिया गया? स्वयं ही इसका समाधान करते हुए लिखते हैं—

"अस्तु एवं सर्ववेदाध्ययनतत्पारायणब्रह्मयज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यम्। अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद्व्याख्यानमेव आदौ युक्तम्।" पृ० २

अर्थात् माना कि वेद अध्ययन, पारायण आदि में ऋग्वेद को ही प्रथम कहा है तथापि अर्थज्ञान यज्ञ के अनुष्ठान को दृष्टि में रखकर ही अपेक्षित होता है और यज्ञ के अनुष्ठान में यजुर्वेद की प्रधानता है। अतः यजुर्वेद का व्याख्यान आरम्भ में किया गया, यह उचित है।

अब यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वेदार्थ करने से सायण का दृष्टिकोण यज्ञपरक और केवल यज्ञपरक ही है। वह तो यज्ञानुष्ठान के अतिरिक्त वेदार्थ की कोई उपयोगिता ही स्वीकार नहीं करता। सायण की प्रशंसा में औचित्यानौचित्य का विचार न रखने वाले पं० बलदेव उपाध्याय अपने सम्पादकीय परिचय में लिखते हैं—

It was proper on the part of Sayana to write his first bhassya upon yajurveda samhita, because it is in order to perform the sacrifice that we must know the meaning of the Veda."[1]

अर्थात् सर्वप्रथम यजुर्वेद संहिता का भाष्य लिखना सायण के लिए उचित

---

1. Introduction to the commentary of the Veda—P XVI

ही था क्योंकि यज्ञों के लिए यजुर्वेद की ही प्रमुखता ही समझी जाती है तथा यज्ञ सम्पादनार्थ ही हमें वेदार्थ को जानने की आवश्यकता रहती है। वस्तुतः सायण और उसके अनुयायी उपाध्याय जी का यह वेदार्थ सम्बन्धी दृष्टिकोण नितांत संकुचित है। जहाँ कहीं मनुस्मृति आदि शास्त्रों में भी—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम्॥

कहकर वेद को यज्ञ सिद्ध के अर्थ बताया गया है। वहाँ भी 'यज्ञ' का अर्थ अग्निहोत्रादि के संकुचित अर्थों में न कर प्राणिमात्र के कल्याणार्थ किये जाने वाले सभी उत्तम कर्मों में अभिहित करना होगा।

महर्षि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सायण के इस दृष्टिकोण की कटु आलोचना की है। वे लिखते हैं—

यत् सायणाचार्येण वेदानां परमर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तम् तदन्यथाऽस्ति।"

अर्थात् सायणाचार्य ने वेदों के परमार्थ को न जानकर यह कहा कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही वर्णन करते हैं, यह मिथ्या है। उपर्युक्त विवेचन से महर्षि दयानन्द और आचार्य सायण के वेदार्थ विषयक दृष्टिकोण में जो मौलिक अन्तर है, वह स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार कर्मकाण्ड प्रतिपादक होने के कारण यजुर्वेद का सर्वोपरि महत्त्व स्थापित करने के अनन्तर सायण एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उठाते हैं। पूर्वपक्षी कहता है—

ननु वेद एव तावन्नास्ति, कुतस्तदवान्तरविशेष ऋग्वेदः? तथाहि, कोऽयं वेदो नाम? आदि—

अर्थात् जब वेद का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है, ऐसी स्थिति में वेद के अवान्तर विशेष ऋग्वेद का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः प्रश्न यह है कि वेद है क्या? इस प्रश्न के समाधान में सायण ने लिखा है—

"मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम्। अत एव आपस्तम्बो यज्ञपरिभाषायामेवमाह 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (१।३३) इति।'

यह एक और महत्त्वपूर्ण विषय है जिसपर सायण और दयानन्द के विचारों में भिन्नता प्रतीत होती है। सायण ने तथा अन्य मध्यकालीन आचार्यों ने जहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही वेद की संज्ञा दी है, वहाँ आचार्य दयानन्द केवल

मन्त्रभाग को ही वेद मानते हैं। सायण ने तो अपने मत की पुष्टि में केवल 'आपस्तम्ब यज्ञ-परिभाषा' का एक सूत्र ही उद्धृत किया, परन्तु महर्षि दयानन्द ने अपने 'वेद संज्ञा विचार' प्रकरण के अन्तर्गत इस विषय की पूरी मीमांसा की है। उनकी दृष्टि में 'न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति' ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती। कुतः—क्यों: नहीं इसलिए कि।

(१) **पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्**—अर्थात् ब्राह्मणों की पुराण और इतिहास संज्ञा है।

(२) **वेदव्याख्यानात्**—वे वेद के व्याख्या हैं।

(३) **ऋषिभिरुक्तत्वात्**—वे ऋषियों के कहे हुए हैं।

(४) **अनीश्वरोक्तत्वात्**—ईश्वरोक्त नहीं हैं।

(५) **कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्**—कात्यायन से भिन्न अन्य किसी ऋषि ने उन्हें वेद-संज्ञा प्रदान नहीं की।

(६) **मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्**—मनुष्य बुद्धि से रचे गये हैं।

ये हैं वे तर्क और युक्तियां जो महर्षि ने ब्राह्मणों को वेद न मानने में दी हैं। वे केवल इन युक्तियों का उल्लेख करके ही संतुष्ट नहीं हो गए। प्रत्येक की उन्होंने उदाहरणों द्वारा पुष्टि भी की है। यथा, जब वे कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों की इतिहास और पुराण संज्ञा है तो इसको सिद्ध करने के लिए वे **'यदब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः'** यह सूत्र उद्धृत करते हैं तथा यह भी बताते है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में देवासुर-संग्राम, याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी आदि का उल्लेख होना उनकी इतिहास संज्ञा को सिद्ध करता है। इसी प्रकार **'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'** आदि वचनों की सत्ता ब्राह्मणों को पुराण संज्ञा प्रदान करती है। यह तो हुआ ब्राह्मणों को 'पुराण' और इतिहास नाम से अभिहित करने के विषय में।

जहाँ तक उनके वेदव्याख्यान होने का सम्बन्ध है, वह भी स्पष्ट ही है। वे लिखते है—

इषे त्वोर्जे 'त्वेति' (शतपथ काण्ड १।) अ० ७ इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्।

अर्थात् 'इषे त्वोर्जेत्वेति' इस प्रकार वेद मन्त्रों की प्रतीकें धरकर जो ब्राह्मणों में वेदों की व्याख्या की गई है वह भी उनका वेदव्याख्यान होना ही सिद्ध करता है न कि स्वयं वेद होना। ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषि प्रोक्त तो हैं। ऐत-

रेय ब्राह्मण इतरा पुत्र ऐतरेय महीदास की रचना है। शतपथ के रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य माने गये हैं। इसी प्रकार अन्यान्य ब्राह्मण ग्रन्थ भी ऋषिकृत ही हैं वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। यदि होते तो जहाँ पुरुषसूक्त में 'तस्माद् यज्ञात्' आदि मन्त्रों में ऋग्वेदादि ४ वेदों की रचना पुरुष द्वारा होनी बताई गई वहाँ ऐतरेयादि ब्राह्मणों का भी पुरुषोक्त होना अवश्य बताया जाता। उसके अभाव में ब्राह्मणों का अनीश्वरोक्त होना स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदत्व सिद्ध नहीं होता। जहाँ तक उस तथाकथित कात्यायनवचन का प्रश्न है जिसमें वेद को 'मन्त्रब्राह्मणात्मक' कहा गया है हम पाठकों से पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक लिखित उस लघुपुस्तिका[1] के पढ़ने का अनुरोध करेंगे जिसमें इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया गया है।

आर्यसमाज और सनातन धर्म के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण में उपर्युक्त विषय को लेकर नितान्त अन्तर प्रतीत होता है। अभी कुछ वर्ष पूर्व कानपुर में सनातन धर्म के नेता स्वामी करपात्री द्वारा सर्व वेदशाखा सम्मेलन का आयोजन किया गया था। उसमें आर्यसमाज के पक्ष को वेदवाणी के सम्पादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने, तथा सम्मेलन के पश्चात् पं० विद्याधर जी मंत्री केन्द्रीय आर्य सभा कानपुर, पं० डा० हरिदत्त जी शास्त्री, संस्कृत विभागाध्यक्ष डी. ए. वी. कालेज कानपुर आदि विद्वानों ने पत्रव्यवहार प्रस्तुत किया था। सम्मेलन के समाप्त होने के पश्चात् सनातन धर्म के दृष्टिकोण को 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' शीर्षक ग्रन्थ के दो भागों में प्रस्तुत किया गया जो स्वामी करपात्री जी के नाम से प्रकाशित हुआ है। आर्यसमाज की ओर से इसका समाधानात्मक उत्तर 'वेदसंज्ञाविमर्श' के नाम से दिया गया है जो आर्य समाज मेस्टन रोड कानपुर से प्रकाशित हुआ है। दोनों पक्षों के ग्रन्थों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने से इस विषय की गहनता और जटिलता का भलीभाँति आभास हो जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि शताब्दियों से वेद का यज्ञप्रधान अर्थ किये जाने तथा अन्यान्य कारणों से ब्राह्मण ग्रन्थों को भी रूढार्थ में 'वेद' संज्ञा प्रदान की जाती रही है परन्तु ऋषि दयानन्द का यह दृष्टिकोण भी नितान्त क्रान्तिकारी तथा युक्ति प्रमाण एवं तर्क सिद्ध है जिसके अनुसार उन्होंने केवल मंत्र संहिताओं को ही वेद माना और शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थों

---

१. "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् इत्यत्र कश्चिद् अभिनवो विचारः"।

का पौरुषेयत्व सिद्ध कर उनका स्वतः प्रमाणत्व अस्वीकार कर दिया।

—★—

आचार्य सायण और ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन

(३)

सायण वेद को मंत्रब्राह्मणात्मक मानता है, यह हम पीछे देख आये हैं, परन्तु वेद के स्वतः प्रमाणत्व के विषय में उसे किसी प्रकार की शंका नहीं है। जिस प्रकार सूर्य स्वतः प्रकाशित है, उसी सत्ता को सिद्ध करने के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार वेद भी अपनी प्रामाणिकता के लिए अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते। सायण का यही कथन है—

"यथा घटपटादिद्रव्याणां स्वप्रकाशकत्वाभावेऽपि सूर्यचन्द्रादीनां स्वप्रकाशकत्वमविरुद्धम्, तथा मनुष्यादीनां स्वस्वधारोहासंभवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्तु।[१]

वेद के स्वतः प्रमाणत्व की सूर्य के इसी दृष्टान्त से सिद्धि आचार्य शंकर ने वेदान्त के 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में की है। ऋषि दयानन्द ने भी इसी दृष्टान्त का उपयोग किया है।

इसके आगे सायण ने एक पूर्वपक्ष उन लोगों का उठाया है जो यह मानते

---

१. सायण कृत 'ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका' पृ० ५ चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी से प्रकाशित

१. देखिए लेखक का इस विषय का आर्यमित्र में प्रकाशित लेख 'कौत्स मत खण्डन।'

है कि वेद व्याख्या के योग्य नहीं हैं। इसी प्रकार का एक आक्षेप निरुक्त में कौत्स नामक एक आचार्य के नाम से मिलता है जो यह कहते हैं कि "अनर्थका हि मंत्राः" अर्थात् वेदमंत्रों का कोई अर्थ नहीं होता। यास्क ने निरुक्त में इस मत का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है।' यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो मीमांसा-दर्शन में भी यह प्रकरण आता है। सायण का यह प्रसंग हूबहू यास्क की नकल है। सम्भवतः इसका उल्लेख करना पिष्टपेषण मात्र समझकर ही ऋषि दयानन्द ने अपनी भूमिका में इस प्रकरण को छोड़ दिया है।

पूर्व पक्षी वेद को अनर्थक इन युक्तियों के आधार पर कहता है—

(१) कुछ मंत्र ऐसे हैं जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता यथा सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू। ऋ० १०। १०६। ६

(१) कुछ मंत्रों के अर्थों को लेकर संदेह उत्पन्न होता है यथा अधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत्। ऋ० १०।१२६।५

(३) 'ओषधे त्रायस्व', 'स्वधिते मैनं हिंसीः' आदि मंत्रों में अचेतन औषधि और छुरे को संबोधन किया गया है जो व्यर्थ है।

(४) कई मंत्रों में परस्पर विरुद्धार्थ कथन किया गया है यथा 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' यहाँ रुद्र को एक बताया है परन्तु अन्यत्र 'सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्' यह कहकर सहस्रों रुद्रों का कथन किया गया है।

यास्क की भाँति सायण ने भी इन आक्षेपों का समाधान कर दिया है। वह प्रथम आक्षेप के उत्तर में कहता है कि जिन मंत्रों को दुरूह कहकर तुम निरर्थक कहते हो उनका भी अर्थ होता है। यदि तुम्हें उनका ज्ञान नहीं है तो इसमें मंत्रों का क्या अपराध? 'अधः स्विदा०' आदि मंत्र संदेह के प्रवर्तक नहीं हैं। गुरु, शास्त्र और सम्प्रदाय की परम्परा से रहित व्यक्ति ही उन्हें संदेह प्रवर्तक कहते हैं। जहाँ तक तृतीय आक्षेप का सम्बन्ध है सायण यह कहकर छुट्टी पा लेना चाहता है कि वेदमंत्रों में जहाँ ओषधि, क्षुरा या ग्रावाण को सम्बोधन किया गया है, वहाँ उन-उन जड़ पदार्थों में रहने वाली अभिमानिनी चेतन देवताओं से अभिप्राय है। ऋषि दयानन्द इस प्रकार के अभिमानी देवताओं का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। यद्यपि सायण को वेदान्त का अभिमानि-व्यपदाक्रान्तदर्शिता तो थी नहीं जिसके कारण वह अपने युग में प्रचलित मिथ्या विश्वासों और रूढिबद्ध धाराओं से मुक्त होकर वेद का वास्तविक अभिप्राय

समझ पाता और उसका प्रचार करता।

एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। जैमिनी द्वारा निर्देशित 'ऊहा' (मी० १।२।५२) की प्रक्रिया को समझाने के लिए सायण ने एक उदाहरण दिया है। 'ऊह' का अभिप्राय यह है कि प्रकृत रूप में मंत्र का जो पाठ है उसे क्रिया रूप में विनियुक्त करते समय जो उसमें परिवर्तन कर लिया जाता है उस प्रक्रिया को 'ऊह' कहते हैं। सायण का उदाहरण यज्ञ में पशुहिंसा के सिद्धान्त का समर्थक है। यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता का एक मंत्र है :—

'अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानुभ्राता।'

इसका अर्थ सायण के अनुसार यह है कि जिस समय यज्ञ में पशु का वध किया जाता है तो वधकर्ता पुरोहित इस मंत्र के द्वारा मारे जाने वाले पशु के माता-पिता और भाई से उनकी अनुमति ले लेना चाहता है। प्रथम तो वधकर्ता को यह पता कैसे चलेगा कि मरने वाले पशु के पिता, माता और भाई कौन से हैं ? और यदि पता लग भी जाय तो कौन ऐसे निष्ठुर माता-पिता होंगे जो अपने सन्तान के मारने की अनुमति देंगे। खैर, हमें इससे प्रयोजन नहीं तो ऊह का उदाहरण देते हुए सायण कहता है कि यदि किसी यज्ञ में दो पशु हों तो मन्त्र को द्विवचन के अनुरूप हम को इस प्रकार पढ़ना चाहिए— 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' और एकाधिक पशुओं को मारना है तो बहुवचन युक्त प्रयोग इस प्रकार होगा—'अन्वेनान् माता मन्यताम्।' यह उदाहरण यद्यपि मीमांसा के एक पारिभाषिक शब्द ऊह की व्याख्या के प्रसंग में दिया गया है, परन्तु उदाहरण देने वाले की मनोवृत्ति इससे भली-भाँति व्यक्त हो जाती है। इसी प्रकार 'पशुबंधयाजी सर्वान् लोकानभिजयति' अर्थात् पशु-यज्ञ करने वाला सब लोकों को जीत लेता है। 'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत' (तै० सं० २।१।१।४५) अर्थात् जो व्यक्ति प्रजा और पशुओं की इच्छा करे वह अजात कटंग (जिसके सींग उत्पन्न न हुए हों) अथवा भग्नशृंग (टूटे सींग वाले) बकरे का वध करे। आदि विभिन्न पशु-वध विधायक शाखा या ब्राह्मण वाक्यों को उद्धृत कर सायण ने यह संकेत दे दिया है कि यज्ञों में पशु-हिंसा वेदविहित है। महर्षि ने अत्यन्त तीव्र शब्दों में इस अनाचार का विरोध किया और प्रमाण पुरस्सर सिद्ध किया कि वेद पशुहिंसा की आज्ञा नहीं देते॥

—★—

क्या वेद निरर्थक हैं ?

कौत्समत का खण्डन

वेदों के विषय में जहाँ अनेक भ्रममूलक धारणाएँ प्रचलित हैं, वहाँ एक यह भी है कि वेदों के मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता। एक प्राचीन कौत्स नामक आचार्य के शब्दों में "अनर्थका हि मंत्राः" वेद मन्त्र निरर्थक हैं, उनका कोई तात्विक अर्थ नहीं है। कौत्स ने अपने मत की स्थापना के लिए निम्न प्रमाण दिये हैं—

(१) वेद मन्त्रों में नियत शब्दों की नियत आनुपूर्वी होती है। अन्यथा शब्दों का प्रयोग करने से वेद मन्त्रों का महत्त्व नहीं रहता। उदाहरण के लिए, 'अग्निमीळे पुरोहितं' यह ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है। इसमें अग्नि, ईडे, पुरोहितं आदि शब्दों के स्थान पर यदि वह्नि, स्तौमि, नायकं आदि पूर्व शब्दों के पर्याय रख दें तो वेद-मन्त्र का रूप ही दूसरा हो जाता है परन्तु लौकिक भाषा में ऐसा करने से कोई हानि नहीं होती। अतः वेद-मन्त्र निरर्थक हैं—

(२) वेद मन्त्र यदि स्वरूपतः पूर्ण हैं और उनका अर्थ ही अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा नहीं रखता तो फिर वेद-मन्त्रों का ब्राह्मणों द्वारा विनियोग क्यों किया जाता है।

(३) मन्त्रों के अर्थ असंगत हैं। उदाहरणार्थ यज्ञ में पशु को काटते समय मन्त्र पढ़ा जाता है—"ओषधे त्रायस्वैनं, स्वधितेनमैनं हिंसीः" अर्थात् हे औषधि! तू इसकी रक्षा कर, हे खंग तू इसको मत मार" परन्तु क्रिया इससे बिल्कुल विपरीत होती है। इस प्रकार अर्थ और क्रिया में विरोध है।

(४) वेद मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले हैं। जैसे एक स्थान पर कहा गया है—"एक एव रुद्रो अवतस्थे न द्वितीयः" अर्थात् रुद्र एक ही है, दूसरा नहीं। अन्य स्थान पर कहा गया है—"असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्यां" अर्थात् असंख्यात रुद्र भूमि पर हैं।

(५) पांचवां हेतु यह है कि जानने वाले यज्ञकर्ता को वेद आज्ञा देता

है कि यज्ञ में अग्नि के सम्यक् रूप से प्रदीप्त हो जाने पर ही मन्त्र बोलने चाहिए। यह तो सर्वविदित ही है कि अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर ही आहुतियाँ दी जा सकती हैं। अतः वेद की यह आज्ञा निरर्थक है।

(६) एक अन्य हेतु जो वेद के अनर्थकत्व में दिया जा सकता है। वह यह कि वेद में कहा है "अदिति" ही सब कुछ है। यहाँ अदिति को ही द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र सब कुछ बतलाया गया है। यह सर्वथा असंभव है कि एक ही व्यक्ति माता-पिता और पुत्र सब कुछ हो।

(७) सातवाँ आक्षेप यह है कि वेद मन्त्र अस्पष्ट अर्थ वाले हैं। वेदों में अनेक शब्द ऐसे आए हैं जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता।

लगभग ऐसे ही आक्षेप आजकल भी किये जाते हैं, जिनमें कहा जाता है कि वेदों में अस्पष्टता, अश्लीलता, असम्भव और पुनरुक्ति आदि दोष मिलते हैं। अब यह देखना चाहिए कि वस्तुतः कौत्स के इन आक्षेपों में सत्यता का अंश कितना है। महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में कौत्स मत का पूर्व पक्ष स्थापित करने के पश्चात् उसका समाधान इस प्रकार किया है। यास्क कहते हैं कि लौकिक और वैदिक भाषा में शब्दों की समानता के कारण वेदमंत्र अर्थ वाले हैं अर्थात् जो अग्नि, वायु, आदित्य आदि शब्द लौकिक भाषा में हैं, वे ही वेद में भी हैं। जब लोक में उनका कोई न कोई अर्थ हो सकता है तो वे अनर्थक कैसे हो सकते हैं? मंत्रों के सार्थक होने के कारण ही विभिन्न कार्यों में उनका पाठ होता है। अतः स्पष्ट है कि वेदमन्त्रों की अर्थवत्ता के कारण ही ब्राह्मण ग्रन्थ उनका तत् तत् कर्मों में विनियोग करते हैं।

कौत्स मत के खण्डन में यास्क ने निम्न हेतु दिये हैं :—

(१) वेद-मन्त्रों में शब्दों की नियत आनुपूर्वी का आक्षेप किया जाता है वह उचित नहीं क्योंकि प्रायः लोक की भाषा में भी शब्दों की आनुपूर्वी नियत होती है। जैसे "मातापितरौ" की जगह "पितामातरौ" 'इन्द्राग्नि' की जगह 'अग्नीन्द्रौ' नहीं होते। वेदों में यह आनुपूर्वी सर्वत्र होती है। छंद की दृष्टि से भी यह नियम आवश्यक है, अन्यथा छदोभंग का दोष वेदों में आयेगा।

(२) वेदमन्त्र अपने स्वरूप में पूर्ण हैं, ब्राह्मणों द्वारा विनियुक्त होने से उनकी सार्थकता नष्ट नहीं होती।

(३) मंत्रों के अर्थ असंगत हैं, यह सिद्ध करने के लिए जो पशुवध का दृष्टान्त दिया है वह अनुचित है। मंत्र तो अहिंसा की ही शिक्षा देता है, परन्तु

उसकी अवहेलना कर यदि हम उसके विपरीत कार्य करें तो इसमें मंत्र का दोष नहीं है। यदि कोई व्यक्ति कहे कुछ और करे कुछ तो यह उसका ही दोष है। यज्ञों में पशु हिंसा वेद विरुद्ध है। उपरोक्त मन्त्र का विनियोग महर्षि दयानन्द चूड़ाकर्म में मानते हैं अतः कोई दोष नहीं।

(४) एक रुद्र है और असंख्य रुद्र हैं, यह कहकर जो वेदमन्त्रों में परस्पर विरोध बताया है वह भी वैदिक शब्दों के अर्थों की अनभिज्ञता सूचित करता है। जहाँ रुद्र को एक और द्वितीय बताया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा जो 'रुद्र' नामधारी है, वह एक ही है। जहाँ एकाधिक रुद्रों का वर्णन है, उससे अनेक जीवों का बोध होता है। अतः इनमें विरोध नहीं।

(५) वेद में यह जो आज्ञा दी है कि अग्नि प्रदीप्त करने के पश्चात् आहुति दी जानी चाहिए, जब कि यज्ञकर्त्ता यह भली भाँति जानता है। वास्तव में यह कोई अनुचित बात नहीं है। शिष्य अपने गुरु को अपना नाम बोलकर अभिवादन करता है। क्या गुरु उसका नाम नहीं जानता? वह तो जानता ही है। परन्तु इससे अभिवादन का वाक्य निरर्थक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार विवाह में वर को जब मधुपर्क दिया जाता है। तो 'मधुपर्क' शब्द का तीन बार उच्चारण किया जाता है। इसे अनर्थक न मानकर दृढ़ता प्रकाशनार्थ ही समझना चाहिए।

(६) वेद-मन्त्र में जब यह कहा जाता है कि 'अदिति' ही सब कुछ है तो यह उसी प्रकार का वचन है जब लोक में कहा जाता है कि 'जल ही जीवन है।' वास्तव में जल की महत्ता को बतलाने के लिए ही यह कहा जाता है। इससे अन्य पदार्थों की सत्ता का निषेध नहीं होता और न जल ही सर्वस्व हो जाता है। इसी प्रकार 'अदिति' परमेश्वर का नाम है। 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' की भाँति ही 'अदिति' की स्तुति है।

(७) वेद-मंत्रों के शब्दों पर अस्पष्टता दोष लगाना उसी प्रकार है जिस प्रकार अन्धा किसी वृक्ष से टकराकर उसे दोषपूर्ण बताता है। निरुक्त, व्याकरण आदि वेदांगों को जानने वाला पण्डित ही वेदों के शब्दों के रहस्य को समझ सकता है। [अतः केवल कथन-मात्र से ही वेदों की अनर्थता सिद्ध नहीं होती। वेदार्थ को समझने के लिए विद्याभ्यास और तपस्या की आवश्यकता है।

—★—

ऋग्वेद का एक इन्द्र सूक्त

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल का बारहवाँ सूक्त इन्द्र देवता-विषयक है। इस सूक्त के द्रष्टा ऋषि गृत्समद हैं। १५ ऋचाओं वाले इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्रान्त में अन्तिम मंत्र को छोड़कर 'स जनास इन्द्रः' यह सूक्ति आती है। सायण ने इस सूक्ति का भाष्य लिखने से पूर्व बृहद्देवता के आधार पर एक विचित्र कथा लिखी है, जिससे यह सिद्ध होता है कि सायण आदि पौराणिक भाष्यकार मिथ्या प्रचलित कथाओं को सत्य मानकर वेदमंत्रों की उदात्त शिक्षा और उनके महनीय तत्त्वों का किस प्रकार विनाश कर देते थे। यदि इस सायणोक्त कथा को सत्य माना जाय तो इस महत्त्वपूर्ण इन्द्र सूक्त में परम पिता की महिमा का जो अपूर्व गायन किया गया है, वह सब लुप्त होकर एक विचित्र सी घटना शेष रह जाती है। इस प्रकार वेद के गौरव को कम करने के लिए सायणादि मध्यकालीन भाष्यकार कम उत्तरदायी नहीं हैं।

सायण ने बृहद्देवता के प्रासंगिक श्लोकों को उद्धृत कर लिखा है—

अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति पुरा किलेन्द्रादयो वैन्ययज्ञं समाजग्मुः। गृत्समदोऽपि तत्रागत्य सदस्यासीत्। दैत्याश्चेन्द्रजिघांसया तत्र समागमन्। तान्दृष्ट्वा निर्जगामेन्द्रो यज्ञाद् गृत्समदाकृतिः। स च गृत्समदो वैन्येन पूजितो यज्ञवाटान्निरगच्छत्। निर्गच्छन्तं तमृषिं दृष्ट्वा अयमेवेन्द्र इति मन्यमानास्तमसुरा परिवव्रुः। नाहमिन्द्रस्तुच्छाः किं त्वेवं गुणोपेतः स इत्यनेन सूक्तेन तान्प्रत्युवाच।

अर्थात्—एक अन्य कथा इस सूक्त के विषय में इस प्रकार है। किसी समय इन्द्र वैन्य यज्ञ में सम्मिलित हुए। गृत्समद ऋषि भी उस यज्ञ में सदस्य थे। इन्हें देखकर इन्द्र गृत्समद का रूप धारण कर वहाँ से बाहर निकल गया। तत्पश्चात् वैन्य से पूजित वह ऋषि गृत्समद पुनः जब बाहर निकला, तो उसे निकलता हुआ देखकर "यही इन्द्र है" ऐसा जानने वाले वे असुर उसे पकड़ने लगे। मैं इन्द्र नहीं हूँ, परन्तु वह इन्द्र इन (सूक्त में वर्णित) गुणों वाला है, यह कहकर उस ऋषि ने यह सूक्त गाया।

यह है सायणवर्णित कहानी, जिसे यदि हम सत्य मानें तो वेद का उच्च गौरव, उसका उदात्त और महनीय स्वरूप सभी कुछ लुप्त हो जाता है। देवराज कहे जाने वाले इन्द्र की कायरता और उसका छल इस कथा से स्पष्ट प्रकट होते हैं। इन कहानियों की सत्यता को यदि हम स्वीकार करें तो वेद ऊटपटांग देवगाथाओं के अतिरिक्त और रह ही क्या जाता है? असुरों से अपनी जान बचाने के लिए देवेन्द्र का ऋषि का रूप धारण करना और अहिल्या के सतीत्व को नष्ट करने के लिए उसका गौतम का रूप धारण करना, यही तो वे लांछनयुक्त कथाएँ हैं जो हमारे शास्त्रों के स्वरूप को विकृत करती हैं।

प्रकृत सूक्त का यदि अध्ययन किया जाय तो उसमें परमात्मा की अपार महिमा का उदात्त वर्णन दृष्टिगोचर होता है। ऋषि दयानन्द ने सूक्त का जो भाष्य किया है, वह यह बताने के लिए पर्याप्त है कि नैरुक्त पद्धति को अपना कर ही वेदों का वास्तविक रूप लोगों के समक्ष रखा जा सकता है। अन्यथा सायण आदि भाष्यकारों ने तो विचित्र-विचित्र कथाओं और किंवदन्तियों तथा इतिहासों का वेदमंत्रों पर आरोप कर उन्हें एक ऐसा भ्रष्ट रूप प्रदान किया है, जिसे देखकर एक सामान्य पाठक की वेद के प्रति निष्ठा निःशेष हो जाती है।

यहाँ हम उक्त सूक्त के कुछ मंत्रों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे। सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुनापर्यभूषत्। यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥ ऋ० २। १२। १।

सर्वप्रथम सायण के गाथायुक्त अर्थ की बानगी देखिये। सायण ने लिखा **गृत्समदो ब्रूते। जनासः जनाः हे असुरा यो जात एव जायमान एव सन् प्रथमः देवानां प्रधानभूतः मनस्वान् मनस्विनामग्रगण्यः देवः द्योतमानः सन् क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान्यागदेवान्पर्यभूषत् रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत्।·········नृम्णस्य सेनालक्षणस्य बलस्य मह्ना महत्वेन युक्तः स इन्द्रो नाहमिति।**

अर्थात्—गृत्समद कहते हैं—हे असुरो! जो उत्पन्न होते ही देवताओं में प्रधानभूत और मनस्विजनों में अग्रगण्य हुआ और जो अपने वृत्रवधादि लक्षणों के कारण देवताओं का रक्षक बना। जो अपने सेनादि बलों के महत्व से युक्त है, वह इन्द्र है। मैं इन्द्र नहीं हूँ।

सायण के अर्थ में जो प्रथम आपत्ति उठती है वह है उसकी प्रसंग कल्पना की। 'स जनास इन्द्रः' कहने से यह सिद्ध कैसे हो गया कि गृत्समद असुरों से अपने आपको बचाने के लिए यह सफाई दे रहे हैं। फिर जनासः का अर्थ 'असुराः' करना भी सायण की मनमानी कल्पना ही है। 'क्रतुना' से वृत्रवधादि पुराणोपलक्षित अर्थ लेना यह स्पष्ट सिद्ध कर देता है कि सायण के वेदार्थ का आधार ही गलत है। पौराणिक गाथाओं (Mythology) को वेद का आधारभूत मानकर सायण ने वेदतत्त्वार्थ की महती हानि की है। सायण द्वारा उल्लिखित इन्हीं किंवदन्तियों का सहारा लेकर ही यूरोपीय विद्वानों को वेद और वैदिक युग के इतिहास के विषय में वह सब लिखने का साहस हुआ जिससे वेद का वास्तविक स्वरूप और अभिप्राय सर्वथा लुप्त हो गया।

अब इसी मंत्र का ऋषि दयानन्दकृत अर्थ देखें। पाठकों को सायण और दयानन्द का अन्तर स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का द्विविध अर्थ किया है—सूर्यपरक और ईश्वरपरक। संस्कृत पदार्थ इस प्रकार है—

(यः) (जातः) उत्पन्नः) (एव) (प्रथमः) आदिमो विस्तीर्णो वा (मनस्वान्) मनो विज्ञानं विद्यते यस्य सः (देवः) द्योतमानः (देवान्) प्रकाशितव्यान् दिव्यगुणान् पृथिव्यादीन् (क्रतुना) प्रकाशकर्मणा (पर्यभूषत्) सर्वतो भूषत्यलङ्करोति। (यस्य) (शुष्मात्) बलात् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (अभ्यसेताम्) प्रक्षिप्ते भवतः (नृम्णस्य) धनस्य (मह्ना) महत्वेन (सः) (जनासः) विद्वांसः (इन्द्रः) दारयिता सूर्यः।

ऋषि दयानन्द जनासः का अर्थ विद्वांसः करते हैं। विद्वान् ही ईश्वर और सूर्य का स्वरूप समझने की क्षमता रखते हैं। संस्कृत भावार्थ में उक्त मंत्र का ईश्वरपरक अर्थ द्रष्टव्य है—

येनेश्वरेण सर्वप्रकाशकः सर्वस्य धर्ता स्वप्रकाशकर्षणाद् व्यवस्थापकः सूर्यलोको निर्मितः स सूर्यस्य सूर्योऽस्तीति वेद्यम्।

अर्थात्—जिस ईश्वर ने सबका प्रकाशक और सब का धारक, अपने प्रकाश से युक्त लोकों की व्यवस्था करने वाला सूर्यलोक बनाया है, वह ईश्वर सूर्य का भी सूर्य है यह जानना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषि दयानन्द किसी पौराणिक कल्पना में न फँसकर मंत्र का वास्तविक भौतिक और आध्यात्मिक अर्थ हमारे समक्ष प्रस्तुत

करते हैं, जो विज्ञान और युक्ति से सर्वथा अविरुद्ध होने के कारण सहज ही ग्राह्य है।

इसी सूक्त का तीसरा मंत्र भी तुलना की दृष्टि से द्रष्टव्य है—

यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिन्धून् यो गा उदाजदपधा बलस्य। यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः॥ ऋ० २।१२।३

सायणकृत सम्पूर्ण अर्थ को न लिखकर सायण ने इस मंत्र में जिस स्वकल्पित इतिहास को लिखा है हम उसी ओर संकेत कर देना पर्याप्त समझते हैं। 'बलस्य गा' इन शब्दों को देखकर सायण की लेखनी किसी इतिहास की कल्पना करने के लिए मचल पड़ी। उसने लिखा—

बलस्य बलनामकस्यासुरस्य अपधा तत्कर्तृकान्निरोधान्निरुद्धा गा उदाजत् निरगमयत्।

अर्थात्—उस इन्द्र ने बल नामक असुर की गुफा से गायों को छुड़ाया वह इन्द्र है, मैं नहीं। सायण का अन्धानुसरण करने वाले यूरोपीय पण्डित पिटरसन ने इस सम्पूर्ण मंत्र का अर्थ इस प्रकार किया—

Who slew the Serpent and let loose the Seven Streams, who drove out the kine from the cave of Vala; who begot fire with in the two stones, a Spoiler in battles, He, O men, is Indra.

अर्थात्—जिसने साँप को मारकर सप्त सिन्धुओं को प्रवाहित किया, बल की गुफा से जिसने गायों को मुक्त कराया, जो दो पत्थरों के बीच अग्नि को उत्पन्न करता है, युद्धों में शत्रुओं का नाशक है, वह इन्द्र है।

सायण और पिटरसन का मनमाना अर्थ देखने के उपरान्त जब हम ऋषि दयानन्द कृत अर्थ पर विचार करते हैं तो बल द्वारा गायों के निरोध करने की सायणरचित कहानी और साँप को मारने की पीटरसन वाली कथा साफ उड़ जाती है और जो शेष रह जाता है वह है एक वैज्ञानिक तथ्य जिसे सभी लोग मुक्तकण्ठ से स्वीकार करेंगे। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का सूर्यपरक अर्थ इस प्रकार किया—

हे मनुष्याः! यः सूर्यलोको मेघं वर्षयित्वा समुद्रान् भरति, सर्वान् भूगोलान् स्वं प्रत्याकर्षयि, स्वकिरणैर्मेघस्य सन्निहितस्य पाषाणस्य मध्ये उष्णताञ्जनयति, सोऽग्निरस्तीति वेद्यम्।

अर्थात्—जो सूर्यलोक मेघ को वर्षा कर समुद्रों को भरता है, सब भूगोलों को अपने प्रति खींचता है, अपनी किरणों से मेघ और समीपस्थ पाषाण के बीच ऊष्मा को उत्पन्न करता है, वह (सूर्य) अग्नि रूप है, यह जानना चाहिए।

ऋषि दयानन्द ने 'अहि' का अर्थ निरुक्तप्रक्रिया का अनुसरण कर मेघ किया, परन्तु पिटरसन उस प्रक्रिया से अनभिज्ञ होने के कारण उसे लौकिक संस्कृत का शब्द समझकर उसका अर्थ Serpent (साँप) कर बैठे। जिस 'गा' शब्द को देखकर सायण ने असुर द्वारा गायों के निरोध करने की कल्पना की, ऋषि दयानन्द ने निरुक्तानुसार उस 'गा' का अर्थ पृथ्वी और किरणें किया। अब हम निर्णय पाठकों पर ही छोड़ते हैं। उन्हें वैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन करने वाला दयानन्दकृत अर्थ उचित प्रतीत होता है या असम्भव गाथायुक्त सायणकृत अर्थ।

सूक्त के चतुर्थ मंत्र का अर्थ भी सायण और दयानन्द के दृष्टिकोण के अन्तर को स्पष्ट कर देता है। सम्पूर्ण मंत्र और उसकी व्याख्या को न लिखकर हम केवल अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उसके एक पाद 'यो दासं वर्ण-मधरं गुहा कः' का सायण और दयानन्द कृत अर्थ उपस्थित कर देना ही पर्याप्त समझते हैं। सायण ने इस मंत्रांश का भाष्य करते हुए लिखा—

यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकं यद्वा दासमुपक्षपयितारमधरं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकः अकार्षीत् ॥

उस इन्द्र ने दास वर्ण अर्थात् शूद्रवर्ण को गुहा अर्थात् नरक में ढकेल दिया। दास का अर्थ शूद्र और गुहा का अर्थ नरक करना सायण का मंत्रों के साथ बलात्कार नहीं तो क्या है? फिर सायण की शूद्र वर्ण के प्रति सम्पूर्ण अनुदारता उक्त अर्थ से भली भाँति प्रकट होती है। शूद्र वर्ण को नरक में ढकेलने की भावना यदि सायण अपने अनुदार अन्तःकरण तक ही सीमित रखते तब भी कोई बात थी। परन्तु यहां तो उन्होंने इन्द्र पर ही शूद्रों को नरकगामी बनाने का आरोप लगाया है। वेद के इन अनुदार और पाशविक एवं बर्बर अर्थों की उपस्थिति में यदि पाश्चात्य विद्वान् आर्यों द्वारा शूद्रों और दासों पर कये गये तथाकथित अत्याचारों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करें तो आश्चर्य ही क्या?

ऋषि दयानन्द ने नैरुक्त प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए 'दासम्' का अर्थ 'दातुं योग्यम्' कर सम्पूर्ण अर्थ को नितान्त उदार और स्पृहणीय बना दिया

है। इसमें शूद्र अथवा दास वर्ण के प्रति कोई अनुदारता दृष्टिगोचर नहीं होती।

इसी सूक्त मे दो उदाहरण और देना भी अनुचित न होगा। ११वें मंत्र में सायण ने जो इन्द्र और शम्बर की मिथ्या कहानी लिखी है उसका नमूना इस प्रकार है। पहले हम मंत्र को लिखकर पुनः उसका सायणकृत भाष्य लिखेंगे।

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्। ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥ ऋ० २। १२। ११।

सायण भाष्य—यः पर्वतेषु क्षियन्तम् इन्द्रभिया बहून् संवत्सरान्प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुहासु निवसन्तं शम्बरमेतन्नामकं मायाविनमसुरं चत्वारिंश्यां शरदि संवत्सरे अन्वविन्दत् अन्विष्यालभत।

सायण की कल्पना का आधार शम्बर नामक कोई असुर है, जो इन्द्र के भय से पर्वत की गुफा में छिपकर निवास करता था और इन्द्र ने जिसे ४० वें वर्ष में ढूँढ निकाला। पिटरसन ने भी सायण का अनुसरण करते हुए लिखा—

Who found out in the fortieth autumn Sambara, abiding in the hills.

वस्तुतः सायणकल्पित इस इतिहास में कुछ भी सत्यता नहीं है। यह तो एक वैज्ञानिक प्रक्रिया का सीधा सा वर्णन है, जिसकी ओर महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में संकेत किया है।

नैरुक्त प्रक्रिया का अनुसरण करें तो मेघ ही शम्बर है और सूर्य ही इन्द्र है जो उस अहि रूपी असुर—दानव का नाश करता है। ऋषि दयानन्द ने लिखा—

(यः) (शम्बरम्) मेघम् (पर्वतेषु) अभ्रेषु (क्षियन्तम्) निवसन्तम् (चत्वारिंश्याम्) चत्वारिंशतः पूर्णायाम् (शरदि) शरदृतौ (अन्वविन्दत्) अनुलभते।

अब मंत्र का सम्पूर्ण रहस्य स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है और सायण की कल्पना का महल भूमिसात् हो जाता है।

एक उदाहरण और देकर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। सूक्त के १२वें मंत्र की दूसरी पंक्ति निम्न है—

यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः।

इस मंत्रांश में 'रौहिण' का अर्थ सायण की समझ में नहीं आया। उसने देखा हो न हो, यह कोई रोहिण नाम का असुर है जो द्युलोक को जा रहा है। तुरन्त सायण का अर्थ बन गया। उसने लिख मारा—

यश्च वज्रबाहुः सन् द्यां दिवमारोहन्तं रौहिणमसुरम् अस्फुरत् जघान।

जिस वज्रबाहु इन्द्र ने स्वर्गलोक को जाते हुए रौहिण नामक असुर को मारा वह इन्द्र है, मैं नहीं।

सायण के अनुसार पिटरसन ने भी इस बात की ओर ध्यान न दिया कि यह रौहिण कौन है, तुरन्त सायण के स्वर में स्वर मिलाकर लिख दिया—

Who thunder both in hand, Smote down Rcuhina as he was climbing Heaven.

ऋषि दयानन्द ने सायण के तुल्य किसी मनमाने असुर की कल्पना नहीं की। 'रौहिणं' का दयानन्दकृत अर्थ कितना उपयुक्त, प्रासंगिक और युक्ति एवं तर्कपूर्ण बन पड़ा है यह आप निम्न पंक्तियों में देखें। ऋषि ने इस मंत्रांश का अर्थ करते हुए लिखा—

(यः) (रौहिणम्) रोहणशीलं मेघम् (अस्फुरत्) स्फुरति संचालयति वा (वज्रबाहुः) बाहुरिव वज्रः किरणसमूहो यस्य (द्याम्) प्रकाशम् (आरोहन्तम्) स जनास इन्द्रः।

सम्पूर्ण मन्त्र का भावार्थ लिखते हुए महर्षि ने प्रकृति के एक शाश्वत सत्य की ओर सकेत किया—

यस्मिन् रक्तादिवर्णाः सप्त प्रकाराः किरणाः सन्ति। स एव सूर्यलोको वृष्टिद्वारा नदीनदानापूरयति, पुनरुर्ध्वं जलमाकृष्य धरति, पुनर्वर्षति एवमेवेश्वरनियोगेनेदं चक्रं प्रवर्त्तते।

अर्थात्—जिसमें रक्तादि वर्णयुक्त सात प्रकार की किरणें विद्यमान हैं, वही सूर्य लोक वर्षा द्वारा नदी और नदों को अच्छे प्रकार परिपूर्ण करता और फिर ऊपर को जल खींचकर धारण करता और फिर वर्षाता है। ऐसे ही ईश्वर के आज्ञारूप नियम से यह संसारचक्र चलता है। महान् आस्तिक दयानन्द ने सूर्य के इस कार्य में परमपिता की अद्भुत शक्ति का दर्शन किया, जिसके कारण वे मंत्र का एक सुसंगत अर्थ कर सके।

उपर्युक्त उदाहरणों से सायण और दयानन्द के वेदभाष्यों में जो एक मौलिक अन्तर है वह तो स्पष्ट होता ही है, साथ ही साथ यह भी अप्रकट नहीं

रहता कि सायण का वेदभाष्य अनेक प्रकार की असम्भव कल्पनाओं, मिथ्या इतिहासों और विज्ञान-विरुद्ध कथानकों से भरा पड़ा है। सायण को स्वकृत अर्थ की सत्यता पर भी पूर्ण विश्वास नहीं है, अतः वह जहाँ-तहाँ यद्वा का प्रयोग कर उसे शंकास्पद बना देता है। इसके विपरीत ऋषि दयानन्द का भाष्य नैरुक्त प्रक्रिया का अनुसरण करने के कारण शब्दों के यौगिक अर्थों को लेकर चलता है। इसमें हमें किसी प्रकार की असंगति नहीं मिलती। यह सर्वथा वैज्ञानिक एवं युक्ति तथा हेतु सिद्ध भी है।

अब एक प्रश्न और शेष रह जाता है। यदि यह सूक्त विशुद्ध रूप से परमेश्वर के ही गुणगान करता है तो इसका पूर्णतया ईश्वरपरक अर्थ ही ऋषि ने क्यों नहीं लिखा? कुछ मंत्रों को ईश्वरपरक और कुछ मन्त्रों को सूर्यपरक बताना कहाँ तक युक्तिसंगत है? हमारा निवेदन है कि ऋषि यह मानते हैं कि वेद का प्रत्येक मन्त्र—त्रिविधार्थसूचक है। उसके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के अर्थ लगाये जा सकते हैं और लगाये भी गये हैं। उपनिषद् का यह वचन—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति इसी तथ्य का सूचक है। प्राचीन भाष्यकारों ने भी इस तथ्य को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया था और ऋषि ने भी ऋग्वेद के प्रारम्भिक सूक्तों के अर्थ नमूने के रूप में इसी त्रिविधार्थ-प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए किये थे। यदि वे सम्पूर्ण वेदमंत्रों का अर्थ इसी प्रकार करते जाते—निश्चय ही वे कर सकते थे—तो उनका यह कार्य अत्यन्त लम्बा और अधिक श्रमसाध्य हो जाता। ऐसी स्थिति में उन्होंने यह संकेत रूप में बताना ही आवश्यक समझा कि मन्त्रों के अर्थ विभिन्न प्रक्रियाओं का अनुसरण करते हुए हो सकते हैं।

यही कारण है कि हमारे आलोच्य 'इन्द्र सूक्त' के पन्द्रह मंत्रों की द्विविध व्याख्या उन्होंने की। इनमें से प्रत्येक मंत्र का ईश्वरपरक और सूर्यपरक अर्थ भी किया जा सकता है, यह वे मानते हैं।

—★—

वेद का स्वरूप और प्रामाण्य : करपात्री जी के विचारों की परख

स्वामी हरिहरानन्द करपात्री जी वर्तमान सनातन धर्म के स्तम्भ माने जाते हैं। उन्होंने समय-समय पर कानपुर, दिल्ली आदि में सर्व वेद शाखा सम्मेलनों का आयोजन कर वैदिक चर्चा को उत्साहित अवश्य किया, परन्तु इसमें भी उनका प्रयोजन आर्यसमाज के वेद विषयक सिद्धान्त की भ्रांतियुक्त आलोचना करना तथा सायणमतानुयायी वेदार्थवाद को पुष्ट करना रहा है। कानपुर सम्मेलन के अन्त में 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' शीर्षक ग्रन्थ धर्म-संघ शिक्षा मंडल, वाराणसी से दो भागों में प्रकाशित किया गया, इसे करपात्री जी द्वारा लिखित कहा गया है। यद्यपि इसमें हमें सन्देह है। कानपुर के सर्ववेद शाखा सम्मेलन में आर्यसमाजी विद्वानों से जो विचार-विमर्श स्वामी करपात्री जी का चला था, उसमें करपात्री जी ने कुछ विद्वानों को आगे कर दिया था और स्वयं विचार के लिए कभी सामने नहीं आये थे। अस्तु—

उपर्युक्त ग्रन्थ का प्रथम खण्ड सम्पूर्णतया जैमिनि कृत मीमांसादर्शन के भाष्यकार शबर स्वामी तथा वार्तिककार कुमारिल भट्ट की युक्तियों पर आधारित है। इसमें मौलिकता लेश मात्र भी नहीं है। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में वेद की अपौरुषेयता का विवेचन है। पृष्ठ आठ पर करपात्री जी लिखते हैं—"यज्ञ अनधिकारी के कानों में वेद शब्द नहीं पड़ना चाहिए—ऐसा वैदिकों का आदेश है।[१]......यह वैदिकता परमेश्वर प्रदत्त है, मनुष्यकृत नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि द्विजाति वेदाधिकारियों से किसी भी तरह भी

---

१. श्री करपात्री जी के सम्मेलनों में इसके विपरीत लाउडस्पीकर पर वेद ध्वनि विस्तृत की जाती है, उसे सभी सुनते हैं। इसे ही कहते हैं—कहना कुछ और करना कुछ। सम्पादक।

द्विजाति या वेदाधिकारी भिन्न कोई नहीं बनाया जा सकता।" आगे पुनः लिखते हैं—"वैदिकता या द्विजाति किसी भी प्रकार मनुष्य के अधीन नहीं हो सकती। वैदिक धर्म में ब्राह्मण क्षत्रिय या क्षत्रिय ब्राह्मण, नहीं बन सकता। फिर वेद बाह्य ब्राह्मणादि बन जायें और वैदिक हो जायें इसकी तो चर्चा ही क्या? अतः जैसे पशुता, मनुष्यता परमेश्वर प्रदत्त हैं, वैसे ही द्विजातित्व और वेदाधिकार भी भगवद्दत्त ही हैं।"

उपर्युक्त कथन नितान्त मिथ्या और भ्रमयुक्त है। परमात्मा ने वेदवाणी प्रत्येक आबाल, वृद्ध वा वनिता के हितार्थ प्रदान की है। परमेश्वर की दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र का भेद नहीं। यजुर्वेद की **'यथेमां वाचं कल्याणीम्'** यह श्रुति इस बात की साक्षी है। हाँ अधिकार-मीमांसा का औचित्य इतना ही है कि जो वेद को पढ़ने और समझने की प्रतिभा और शक्ति और शक्ति से युक्त है वही ब्राह्मण है और वेद का अधिकारी है। अन्यथा प्रयत्न करने पर भी जो वेद का तात्पर्य ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। वह शूद्र ही है। ऐसे मूढ़-मति, जड़-बुद्धि शूद्रों के लिए ही वेद का अनधिकार यत्र-तत्र उल्लिखित किया गया है। वैदिकता परमेश्वर प्रदत्त नहीं अपितु मनुष्य के पुण्यों से अर्जित होती है। परमात्मा किसी को वैदिक और अवैदिक नहीं बनाता। **"महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः"** यह मनु का वाक्य इसमें प्रमाण है। द्विजाति के अतिरिक्त शूद्र अतिशूद्र और दास दासी भी वेद के अधिकारी हो सकते हैं। यह ऊपर के यजुर्मन्त्र के द्वारा भली भाँति सिद्ध है। महर्षि दयानन्द ने उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ करते हुए वेदाधिकार की जो सार्वजनीनता घोषित की है उसकी पुष्टि स्वा० भगवताचार्य, सत्यव्रत सामश्रमी आदि आर्येतर वैदिकों ने भी की है।

यह कहना भी असत्य है कि वैदिक धर्म में ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं बन सकता और न क्षत्रिय ब्राह्मण ही बन सकता है। **"शूद्रो ब्राह्मणतामेति"** इत्यादि मनुवाक्य वर्ण परिवर्तन की पुष्टि करते हैं। इतिहास भी इस बात की साक्षी देता है कि जन्मना क्षत्रिय होते हुए कौशिक विश्वामित्र ब्रह्मर्षि पद को प्राप्त हुए। कवष, ऐलूष शूद्र और ऐतरेय ब्राह्मण के प्रणेता ऐतरेय महीदास इतरा नाम की शूद्रा दासी के पुत्र माने जाते हैं। परन्तु उनकी वैदिकता में संदेह नहीं किया जा सकता। इतिहास से ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त दिये जा सकते हैं जो वर्ण-परिवर्तन की पुष्टि करते हैं। अतः करपात्री जी का उपर्युक्त कथन

असत्य ही है। पशुता और मानवता परमेश्वर प्रदत्त या स्वकर्मानुसार प्राप्त कही जा सकती है। 'परमेश्वर निर्मित हर वस्तु में सभी का अधिकार है' इस कथन का उपहास करते हुए करपात्री जी लिखते हैं "तब तो हर स्त्री हर एक पुरुष की पत्नी और हर पुरुष हर एक स्त्री का पति हो सकता है।" करपात्री जी को पता नहीं कि पति और पत्नी के सम्बन्ध मनुष्य कल्पित और सामाजिक होते हैं। परमात्मा के घर से कोई किसी का पति या कोई किसी की पत्नी बनकर नहीं आते। यह तो देश, काल, समाज और रीति-नीति पर आधृत समाज की सापेक्ष अवस्थाएं हैं। अतः करपात्री जी की उपर्युक्त युक्ति में कोई सार नहीं। हाँ, परमात्मा प्रदत्त लिंगभेद तो सभी स्त्री-पुरुषों को समान रूप से सन्तानोत्पादन में सक्षम बनाता है। पुनरपि पति पत्नी का युगल सहयोगी बनना समाज सापेक्ष ही है।

जैसा कि हम लिख चुके हैं प्रस्तुत पुस्तक को करपात्री जी ने मीमांसादर्शन के नवीन ग्रन्थों के आधार पर लिखा है। अतः **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्"** जैसे सूत्रों के सहारे वे लिखते हैं "समस्त वेद-राशि का तात्पर्य केवल क्रिया में ही है। जो वचन क्रियार्थक नहीं हैं वे सर्वथा निरर्थक ही होंगे।" (पृष्ठ १३) हमारी दृष्टि में उपर्युक्त दृष्टिकोण एकांगी है। मीमांसकों ने समस्त वेद को क्रियापरक माना परन्तु उनका क्रिया काण्ड कालान्तर में अपने अर्थ गाम्भीर्य और वैशद्य को खोकर यज्ञ यागादि तक ही सीमित हो गया। तब यह समझा जाने लगा कि वेद के समस्त मन्त्रों को किसी न किसी याज्ञिक क्रिया में नियोजित करना ही वैदिकों का लक्ष्य होना चाहिए। सायणादि मध्यकालीन भाष्यकार भी इसी संकुचित दृष्टिकोण को लेकर चले। उन्होंने वेद-मन्त्रों के उदात्त स्वरूप और उनकी जनकल्याणकारिणी शिक्षाओं को विनियोग के क्षेत्र में बंद कर संकुचित किया। महर्षि दयानन्द ने वेद को समस्त विद्याओं का आकर ग्रन्थ कहा और उसे ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान का भण्डार सिद्ध किया। अतः करपात्री जी के उपर्युक्त कथन को एकांगी ही समझना चाहिए कि समस्त वेद-राशि का तात्पर्य केवल क्रिया में ही है।

आगे चलकर वेदों के विषय में एक और विचित्र बात करपात्री जी लिखते हैं। अब तक तो हम वैशेषिकदर्शन के आधार पर वेदों को बुद्धिपूर्वक रचित मानते थे[1] परन्तु स्वामी हरिहरानन्द जी लिखते हैं "वेद अनुसंधानपूर्वक

१. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे

(बुद्धिपूर्वक) नहीं बनाए गए हैं" (पृष्ठ ४०) पता नहीं यह लिखने में उनका क्या अभिप्राय था। आगे चलकर वे स्वयं ही अपने पूर्व स्थापित मत का खण्डन करते हुए लिखते हैं—"यद्यपि भगवान् सर्वज्ञ हैं, अतः यदि परमेश्वर ने बुद्धि-पूर्वक भी वेद कहा हो, तो भी कोई हानि नहीं, तथापि आस्तिकों का यही अभिनिवेश है कि वेदों के निर्माण में परमेश्वर का स्वातन्त्र्य नहीं है।" (पृ० ४०) जब वेद को बुद्धिपूर्वक रचित करपात्री जी ने उपर्युक्त पंक्तियों में मान ही लिया, पुनः द्रविड़ प्राणायाम करने की क्या आवश्यकता थी? यह कहना भी लेखक का प्रलापमात्र ही है कि वेद के निर्माण में परमेश्वर का स्वातंत्र्य नहीं है। परमात्मा स्वेच्छाचारी या स्वनिर्मिततन्त्र का भंग करने वाला नहीं है। वह तो स्वयं अपने ही नियमों पर चलने वाला तथा अन्यों को भी चलने की प्रेरणा देने वाला है। परमात्मा स्वनिर्मित नियमों में आबद्ध होकर ही वेद की रचना करता है तथा सृष्टि की उत्पत्ति करता है। उसे परम स्वतन्त्र इस अर्थ में कहा जा सकता है कि उसकी नियामक अन्य कोई शक्ति नहीं है। अतः पूर्वकल्प की भाँति वह इस कल्प में भी वेद का निर्माण करता है, कोई नवीन वेद प्रस्तुत नहीं करता। इतना मात्र कहना ही करपात्री जी का प्रयोजन हो, तब तो ठीक है, अन्यथा परमात्मा के स्वातन्त्र्य का यदि वे अपनी मीमांसक (?) बुद्धि से उपहास करना चाहें तो यह दूसरी बात है।

वेद की महत्ता का स्थापन करते-करते करपात्री जी इस बात को भूल जाते हैं कि वेद भी ईश्वर सापेक्ष है।[1] अतः यह लिख बैठते हैं—"भगवान् बुद्ध परमेश्वर के ही अवतार समझे जाते हैं, किन्तु वेद-विरुद्ध होने के कारण ही आस्तिकों में उनका सम्मान नहीं है।" (पृ० ४१) प्रथम तो अवतारवाद का सिद्धान्त ही युक्ति और प्रमाण की आधारशिला के अभाव में साध्य कोटि में आ जाता है। पुनः ईश्वर, आत्मा, वेद आदि को अस्वीकार करने वाले अनात्मवादी व क्षणिकवादी बुद्ध को ईश्वर का अवतार घोषित करना तो और भी बुद्धि का दिवाला निकालना है। करपात्री जी का उपर्युक्त कथन तो वदतो-व्याघात दोष से दूषित होने के कारण अमान्य ही ठहराया जाएगा। यदि बुद्ध ईश्वर के अवतार हैं तो उनको वेद विरोधी कैसे कहा जा सकता है। यदि वे वेद विरोधी हैं तो उन्हें ईश्वर कहना ही कहाँ तक न्यायसंगत है। यह "उभयतः

---

१. तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्। वैशेषिकदर्शन।

पाशा रज्जु:" वाली समस्या करपात्री जी के समक्ष आती है। या तो वे बुद्ध को ईश्वर का अवतार कहना छोड़ें या उसे वेद-विरुद्ध कहना छोड़ें, क्योंकि ईश्वर वेद का विरोधी कभी हो ही नहीं सकता। बात वस्तुतः यह है कि कालान्तर में बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव को देखकर तत्कालीन ब्राह्मण धर्म ने बुद्ध को भी विष्णु के अवतारों में परिगणित कर लिया। हिन्दू धर्म का यह विशाल अजगर बौद्धों को भी लील गया। परन्तु वस्तुतः बुद्ध वेद के विरोधी नास्तिक दर्शन के प्रणेता, लोकायत मतवादी थे, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

इसी प्रसंग में करपात्री जी कुछ वाक्य ऐसे लिख जाते हैं जो यद्यपि वेद के प्रति श्रद्धा से अनुप्राणित कहे जा सकते हैं, परन्तु जो युक्ति और तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। उदाहरणार्थ— "अपने निःश्वास रूप वेदों के भी निर्माता भगवान् नहीं हैं।" (पृ० ४२) यह कथन भी मीमांसक बुद्धि से ही प्रेरित है। आगे चलकर वे लिखते हैं—"आस्तिकों की तो स्थिति यह है कि वे वेद के सामने वेदवेद्य भगवान् को भी नहीं मानते।" (पृ० ४२) वास्तव में करपात्री जी का यह कथन बिल्कुल युक्तिसंगत नहीं है। यदि वेद पढ़कर भी वेदवेद्य भगवान् को भी नहीं जाना या माना तो वेद पढ़ना निरर्थक रहा। वेद तो स्वयं कह रहा है—**"यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति"** (ऋग्वेद १।१६४। ३९) जिसने उस परमात्मा को नहीं जाना वह वेद पढ़कर क्या करेगा? अतः करपात्री जी के उपर्युक्त श्रद्धा-विगलित कथन में सत्य का अंशमात्र भी नहीं है कि वेद के आगे भगवान् का भी कोई महत्त्व नहीं।

पृष्ठ ४३ पर अपने उपर्युक्त कथन की पुष्टि में वे एक अन्य दृष्टान्त देते हुए लिखते हैं—"वेदों के विरुद्ध भगवान् की भी आज्ञा न मानना वैसी ही आस्तिकता है जैसी कि गुरु के विरुद्ध गोविन्द की आज्ञा त्यागना।" यह गुरु गोविन्द की महत्ता और लघुता की भावना ही उस मध्य काल में कल्पित की गई जब गुरु का महत्त्व परमात्मा से भी बढ़कर मानने वाले नाथपंथी योगी निर्गुणी साधु तथा साम्प्रदायिक वर्ग के लोगों ने लौकिक गुरु को परमात्मा का प्रतीक मानकर गुरुडम को प्रोत्साहित किया। इसी हेत्वाभास युक्त कथन का सहारा लेकर वेद और ईश्वर को प्रतिद्वन्द्वी बताना और उन्हें विरोधी शिविरों में डालना करपात्री जी की बुद्धिमत्ता (?) का ही द्योतक है।

पृष्ठ ४५ पर श्रीमद्भागवत की वेदानुकूलता का निर्धारण करते हुए वे

लिखते हैं—"वैष्णवों के परम धन भागवत की भी महत्ता वेदरूप कल्पद्रुम के सुमधुर फल होने के ही नाते बढ़ी" यह कथन भागवत की ही 'निगमकल्पतरोर्गलितम्फलम्' इस युक्ति का सारांश है। महर्षि दयानन्द ने अपने 'भागवत खण्डन' लघु ग्रन्थ में भागवत की वेदानुकूलता का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। वस्तुत: भागवत तो अष्टादशपुराणों में भी अत्यन्त नवीन और अवान्तर-काल की रचना है। उससे तो मत्स्य, वायु तथा विष्णुपुराण ही अधिक प्राचीन हैं। भागवत में वैष्णव पांचरात्र (भागवत) धर्म की प्रतिष्ठा हुई है। यह वैष्णव धर्म गुप्तकाल में संरक्षण पाकर फला फूला। ऐतिहासिक विद्वानों की सम्मति से भागवत का रचनाकाल ईसा के बहुत बाद का है उसकी वेदानुकूलता का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

"वेदों का स्वत: प्रामाण्य" शीर्षक अध्याय में करपात्री जी ने मीमांसा की प्रक्रिया का ही अधिकांश में सहारा लिया है। यहाँ उन्होंने मीमांसा के अपौरुषेय वाद को न्याय के पौरुषेयवाद अर्थात् वेद को ईश्वरकृत मानना और योग की परिभाषा के अनुसार '**पुरुषविशेष ईश्वर:**" होने के कारण वेद को पौरुषेय कहने के विरोध में उपस्थापित किया है। वस्तुत: वेद के कर्तृत्व को लेकर मीमासा और न्याय के मत में कोई मौलिक विरोध नहीं है। आर्यसमाज का वेद विषयक सिद्धान्त यद्यपि न्याय मत के अधिक निकट है फिर भी वह मीमांसा के अपौरुषेयवाद का समाहार भी अपने भीतर कर लेता है, क्योंकि महर्षि दयानन्द न्याय, मीमांसा आदि आस्तिक दर्शनों को एक दूसरे का विरोधी न मानकर एक दूसरे का पूरक मानते हैं।

यहाँ करपात्री जी सृष्टि के आरम्भकाल में वेद ज्ञान का ब्रह्मा को दिया जाना सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार "ईश्वर ब्रह्मा का निर्माण करते हैं, परन्तु वेदों का निर्माण न करके नित्य-सिद्ध वेदों को ही ब्रह्मा के हृदय में प्रेषित करते हैं "**यो वै ब्राह्मणं विदधाति पूर्वम्**" (पृष्ठ १२१)। आगे पृष्ठ १२२ पर भी लिखते हैं—"ईश्वरानुग्रह से ही ब्रह्मा के हृदय में वेदों का प्रकाश होता है। यह कथन भी साध्यकोटि में रखा जाएगा। महर्षि दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति के प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि चारों वेदों का ज्ञान सृष्टि की आदि में परमात्मा द्वारा अग्नि, वायु आदित्य और अंगिरा ऋषियों को क्रमश: प्राप्त होता है। पुन: ये ऋषि ब्रह्मा को वेद का ज्ञान देते हैं। अत: ब्रह्मा को वेद का प्रथम धारणकर्ता माना जाना अनुचित है।

पृष्ठ १३५ पर करपात्री जी लिखते हैं—उपनिषदों का निर्माण तो किसी से नहीं होता। यदि विधि भाग अपौरुषेय और उपनिषद् भाग पौरुषेय माना जाए तो 'अर्धजरतीय' 'न्याय की उपस्थिति होगी''। उपर्युक्त वाक्य लिखकर करपात्री स्वामी संहिता मार्ग की ही भाँति ब्राह्मण और उपनिषदों का भी परमेश्वर रचित होना प्रतिपादित करना चाहते हैं। परन्तु उपनिषदों को ईश्वरीय नहीं कहा जा सकता। केन, कठ, छान्दोग्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि उपनिषदें विभिन्न वैदिक शाखाओं के ब्राह्मण और आरण्यकों के ही भाग हैं। शाखाएँ भी ऋषि प्रोक्त हैं और अध्ययन—अध्यापन के सौकर्य की दृष्टि से बनाई गई हैं। अतः उपनिषदों को अपौरुषेय कहना अपने मताग्रह को ही सूचित करता है। ब्राह्मणों की वेद संज्ञा को स्वीकार कर करपात्री जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय भाग में विचार किया है। अतः उसके ऊपर विचार करते समय हम पुनः इस विषय पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डालेंगे।

पृष्ठ १५० पर करपात्री जी ने पौराणिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध इस उक्ति को ही दोहराया है कि व्यास वेद के विभागकर्ता हैं। वस्तुतः वेद का ऋग्, यजुः, साम और अथर्व में विभाजन वेद के सृष्टि के आरम्भ काल में सम्प्रदान किये जाने के समय हो जाता है, अतः व्यास को वेद का विभाजन कर्ता मानना औचित्यपूर्ण नहीं। कृष्ण द्वैपायन व्यास का आविर्भाव काल द्वापर युग के अन्त में है जब कि उनके भी शक्ति, पराशर आदि पूर्वज ऋषियों ने वेदों का विभाजनपूर्वक अध्ययन अध्यापन ही किया था। अतः यह करने में कोई तुक नहीं कि व्यास से पूर्व वेद चतुर्धा विभक्त नहीं था। आर्यसमाज इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता।

ग्रन्थ के तृतीय अध्याय 'समस्त वेद का प्रामाण्य' में करपात्री स्वामी प्रारम्भ में ''मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस आपस्तम्ब सूत्र की दुहाई देकर मंत्र की भांति ब्राह्मण भाग को भी अपौरुषेय घोषित करते हैं तथा 'वायुर्वा व गौतम अग्निः' 'योषा वाव गौतम अग्निः' 'आदित्यो वै देवानाम् मधु' आदि उपनिषद् वर्णित उपासना प्रणालियों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं ''जैसे प्रतिमाओं में देवताओं की उपासना की जाती है, वैसे ही वायु, स्त्री आदिकों में अग्नि भावना से उपासना की जाती है। (पृ० १७८) उपनिषद् प्रतिपादित उपासना-प्रणालियों की प्रतिमा-पूजन से तुलना करना करपात्री जी का साहस मात्र है। वस्तुतः वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, सूत्र आदि किन्हीं ग्रन्थों में

प्रतिमा पूजा का विधान नहीं मिलता। प्रतिमा को देवता का प्रतीक मानकर पूजना पौराणिक काल की कल्पना है और उसके लिए वेद का कोई मंत्र प्रमाण रूप में प्रस्तुत करने में आज तक पौराणिक लोग असमर्थ रहे हैं। अतः उपनिषदों की उपासना प्रणाली को पौराणिक मूर्ति-पूजा के तुल्य बताना किसी भी प्रकार युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सम्पूर्णतया भाट्टमतीय मीमांसा-प्रणाली का सहारा लेकर ही करपात्री जी ने उपर्युक्त ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में वेद के स्वरूप और प्रामाण्य को निर्धारित करने की चेष्टा की है। इसमें न्याय दर्शन की वेद कर्तृत्व प्रक्रिया का खण्डन किया गया है। तभी तो वे पृ० २७० पर लिखते हैं—"ईश्वर भी वेद का रचयिता नहीं, किन्तु अनादि अपौरुषेय वेद के आधार पर ही धर्म एवं ईश्वर की सिद्धि होती है।" हमारे विचार से इस प्रकार ईश्वर और वेद को विरोधी बताना किसी भी प्रकार आर्ष मत के अनुकूल नहीं है। वस्तुतः न्याय और मीमांसा के मत का समन्वय ही हमें इष्ट होना चाहिए क्योंकि दोनों ही दर्शन पूज्यपाद गौतम तथा जैमिनी जैसे साक्षात् कृत-धर्मा ऋषियों की कृति हैं।

—★—

वेद और पुराण सम्बन्धी विश्लेषण

वैदिक साहित्य में 'पुराण' शब्द

'पुराण' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद के निम्न मंत्र में हुआ। वहाँ कहा गया है—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः॥

॥ अ० ११।७।२४॥

अर्थात् उच्छिष्ट रूपी परमात्मा से यजुर्वेद सहित ऋग्वेद, सामवेद, छंद और पुराण उत्पन्न हुए। यहाँ प्रयुक्त शब्द 'पुराण' किसी ग्रन्थ विशेष का वाचक न होकर पुरातन इतिहास के लिए सामान्य रूप में प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी जहाँ महर्षि नारद सनत्कुमार से अपने द्वारा पठित शास्त्रों का नामोल्लेख करते हैं वहाँ लिखा है—स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्। अर्थात् हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद तथा इतिहास और पुराण रूपी पांचवाँ वेद पढ़ा है। परन्तु नारद का यहाँ तात्पर्य आधुनिक समय में उपलब्ध अठारह पुराणों से नहीं है। ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्य में अन्यत्र भी 'पुराण' शब्द का उल्लेख हुआ है। यथा शतपथ ब्राह्मण में—'नवमेऽह्नि···किञ्चित्पुराणमाचक्षीत'।१३।४।३।१३ अश्वमेध की समाप्ति पर नवम दिन थोड़ी सी पुराण की कथा सुने। गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है—एवमिमे सर्वे वेदाः निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वयाख्याताः सपुराणाः सस्वराः। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी 'पुराण' शब्द का उल्लेख हुआ है—'एवं वारेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषद् ।२।४।११।

वैदिक साहित्य में उपलब्ध इन प्रमाणों के आधार पर कई विद्वानों की यह धारणा है कि वर्तमान में उपलब्ध और प्रसिद्ध अष्टादश पुराण ही उपर्युक्त संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् में उल्लिखित हैं। परन्तु इस कथन में कुछ भी सार नहीं है। वैदिक साहित्य में जहाँ 'पुराण' शब्द का प्रयोग हुआ है वह किसी या किन्हीं ग्रन्थ विशेष के लिए न होकर सामान्य पुरातन घटनाओं और आख्यानों के लिए हुआ है। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द की सम्मति द्रष्टव्य है। वे लिखते है—'ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों ही के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पाँच नाम हैं। इतिहास जैसे जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद, पुराण-जगदुत्पत्ति का वर्णन, कल्प-वेद शब्दों के सामर्थ्य का वर्णन अर्थात् निरूपण करना, गाथा किसी का दृष्टान्त दार्ष्टान्ति रूप कथा प्रसंग कहना, नाराशंसी मनुष्यों के प्रशंसनीय कर्मों का कथन करना।"[१]

१. सत्यार्थ प्रकाश

महर्षि दयानन्द तो ब्राह्मण ग्रन्थों को ही इतिहास और पुराण की संज्ञा देते हैं और इसके लिए आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।३।१) के इस सूत्र को प्रस्तुत करते हैं—'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति। कतिपय विद्वानों ने महर्षि दयानन्द के इस मन्तव्य के प्रति अपनी असहमति प्रकट की है कि वैदिक साहित्य में जो पुराण शब्द का प्रयोग हुआ है वह प्रचलित अठारह पुराणों के लिए ही हुआ है। परन्तु उक्त मत निराधार नहीं है। शंकराचार्य ने अपने बृहदारण्यक भाष्य में 'उर्वशीहाप्सरा:' इस ब्राह्मण को इतिहास तथा 'असुर वा इदमग्र आसीत्' इन सृष्टि प्रक्रिया घटित वाक्यों को पुराण की संज्ञा दी है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित देवासुर संग्राम आदि प्रसंगों को इतिहास तथा सृष्टि प्रतिपादक वाक्य-समूह को पुराण कहा है। यदि शंकर के मतानुसार ब्राह्मण और उपनिषद् वर्णित प्रसंगों को इतिहास और पुराण कहा जा सकता है तो स्वामी दयानन्द के इस मत को हम कैसे अलीक ठहरा सकते हैं कि ब्राह्मणों की ही पुराण संज्ञा है। बंगाल के साहित्यसम्राट् बंकिमचन्द्र ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कृष्णचरित्र' में इसी मत का पोषण करते हुए लिखा है—"पुराण का अर्थ पहले पुरातन था। पीछे पुरातन घटनाओं का वर्णन हुआ। सदा ही पुरातन घटनायें थीं, इसलिए सदा ही पुराण थे। वेदों में भी पुराण हैं। शतपथ ब्राह्मण में, गोपथ ब्राह्मण में, आश्वलायन सूत्र में, अथर्व संहिता में, बृहदारण्यक में, छन्दोग्योपनिषद् में महाभारत में रामायण में, मानव धर्मशास्त्र में, जहाँ देखो वहाँ पुराणों के होने की बात पाई जाती है। किन्तु इन सब ग्रन्थों में से किसी में भी आजकल के पुराणों के नाम नहीं हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि 'पुराण' संज्ञा ब्राह्मण ग्रन्थों की है, न कि भागवत, ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों की।

क्या पुराण वेदों से भी पूर्ववर्ती हैं ?

कई विद्वानों की यह धारणा है कि पुराण वेद से भी प्राचीन हैं। अपने कथन को सिद्ध करने के लिए वे मत्स्यपुराण में पाये जाने वाले वाले इस श्लोक को उद्धृत करते हैं—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥ ५३।३॥

यही श्लोक किंचित् पाठ भेद के साथ वायुसंहिता ७ खण्ड अध्याय १ में

भी उपलब्ध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम पुराणों को प्रकाशित किया। इसके उपरान्त उनके मुख से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु इस मत में हमें कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। यह सर्वविदित और सर्व स्वीकृत तथ्य है कि वेद संसार के उपलब्ध सभी ग्रन्थों में प्राचीनतम हैं। उनसे पुरानी कोई पुस्तक आज तक नहीं प्राप्त हो सकी। पुनः इस कथन में क्या सत्य हो सकता है कि पुराण पहले निर्मित हुए और वेदों की उत्पत्ति बाद में हुई। यह तो पुराणों की प्रशंसा में कही गई अतिशयोक्ति मात्र ही है, क्योंकि न तो अष्टादश पुराणों को ही चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा रचित माना जा सकता है और न वेदों का कर्तृत्व ही ब्रह्मा में सिद्ध होता है। पुराणों की वेदों से इस तथाकथित प्राचीनता को किसी भी मनीषी ने स्वीकार नहीं किया है। आर्य समाजी पण्डितों की बात तो दूर रही, कतिपय पुराणमतावलम्बी विद्वान् भी उक्त मत से अपनी असहमति प्रकट करते हैं। आनन्दाश्रम ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रास्ताविक लेखक पं० पुरुषोत्तम गोविन्द शर्मा रानाडे का निम्न विचार द्रष्टव्य है—

महामहिमशालिनां भगवतां वेदानामपि प्राक्पुराणमासीदिति केषांचिदाधुनिकानां विदुषां मत श्रवणपुटमायाति। प्रसंगात्तद्विषयको विमर्शोऽत्र नानौचित्यमावहेदिति बलीयान् विश्वासः। अतस्तस्मिन् विषये लेखनीं व्यापारयितुमभिलषामः।

प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः॥

वा० पु० १।६०

इति वायवीयवचनमुररीकृत्य ब्रह्मणा पुराणं प्रथमं स्मृतम्। अनन्तरं तस्य वक्त्रेभ्यो वेदा विनिःसृता इति कल्पनया केचन विद्वांसो वेदेभ्योऽपि प्राक्पुराणमासीदिति पुराणप्राथम्यं संसाधयन्ति। परं तदापातरमणीयम्। कुतः। उच्यते।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

महाभारत १२। २३३। २४

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।१८) इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनेभ्यो भगवतो वेदस्यैव प्राग्भावत्वं

स्फुटीभवति । न खलु पुराणस्य । अतएव यत्र क्वापि परमप्रामाण्यधौरेयभूतग्रन्थेषु प्रथमं वेदशब्दोल्लेखस्ततश्च पुराणस्य । यथा तैत्तिरीयारण्यके 'सहवै' इति प्रपाठके 'यद्ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् (तै० आ० २।६।१) 'ऋग्वेदो··· इतिहासः पुराणं विद्या (वृ० ४।१।२) ऋग्वेदो···अथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं पञ्चमम् (छा० ७।१।१) चत्वारो वेदाः···वाकोवाक्यं इतिहासः पुराणं वैद्यकं (पस्पशाह्निक) एवमादीनि परः शतानि वचांसि वेदस्यैव प्राथम्यावबोधकानि संदृश्यन्ते । यदि पुराणस्यैव प्राथम्यमभविष्यत्तर्हि पुराणशब्दस्यैव । प्राङ्निर्देश आगमिष्यत् । एतावता मा भूदष्टादशपुराणानां परमेकस्यापि पुराणस्य प्राग्भावो न स्थिरीभवति ।"

अर्थात् "महामहिमाशाली भगवान् वेद के पूर्व पुराण थे, यह मत कई आधुनिक विद्वानों का है जो हमारे कर्णगोचर होता है, अतः इस विषय का निर्णय करते हैं । वायु पुराण के 'प्रथमं सर्वशास्त्राणां' इस वचन के अनुसार ब्रह्मा ने पुराण को पहले बनाया, पश्चात् उनके मुखों से वेद निकले । इस कल्पना के द्वारा कई विद्वान् वेदों से भी पहले पुराण थे, इस प्रकार पुराणों की प्राचीनता सिद्ध करते हैं । परन्तु उनका यह मत आपात रमणीय (दीखने में ही सुन्दर) है । क्यों ? इसलिए कि 'अनादिनिधना' इस महाभारत वचन तथा 'यो ब्रह्माणं' इस श्रुति वचन से वेद भगवान् ही पूर्व उत्पन्न हुए, यह स्पष्ट होता है न कि पुराण । इसलिए जहाँ कहीं प्रामाणिक ग्रन्थों का उल्लेख होता है । वहाँ पहले वेदों का तत्पश्चात् पुराणों का नाम लिया जाता है । जैसा कि तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, महाभाष्य तथा अन्य भी सैकड़ों वचनों से वेदों की ही प्राथमिकता सिद्ध होती है । यदि पुराणों की प्राथमिकता होती तो पुराणों का ही वेदों से पूर्व निर्देश होता । इसलिए, अठारह पुराणों की बात ही छोड़िये, एक भी पुराण का वेदों की अपेक्षा प्राग्भाव सिद्ध नहीं होता" । इस विवेचन के पश्चात् और अधिक लिखने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रह जाती । पुराणों को वेदों का पूर्ववर्ती कहना घोड़े के आगे गाड़ी को जोतने के तुल्य ही है । किसी भी शास्त्र या परम्परा के द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि वेद पीछे के बने हैं और पुराण उनके पूर्व के हैं । यों कहने के लिए कुछ भी कहा जा सकता है ।

पुराणों में वेद निन्दा

कहने को तो यह कहा जाता है कि 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'

अर्थात् इतिहास और पुराणों से वेदार्थ का सम्यक् प्रकाशन होता है और बिना पुराण ज्ञान के वेदार्थ का ज्ञान भी असम्भव सा ही है, परन्तु वह कथन आज के भागवत, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों पर लागू नहीं होता। वेदार्थ का सम्यक् प्रकाशन तो दूर रहा, इन पुराणों में वेद को दूषित करने का ही यत्न किया है। यह किसी से अप्रकट नहीं है कि वेदों का हमारे देश की धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं का निर्माण करने में कितना योग रहा है। अनादि काल से वेदों को स्वतः प्रमाण मानने की परिपाटी हमारे देश में प्रचलित रही है। अन्यान्य स्मृति ग्रन्थ, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण हमारे लिए तभी तक प्रामाणिक हैं जब तक वे वेदानुकूल होते हैं। वेद विरुद्ध होने पर उनकी मान्यता स्वतः ही समाप्त हो जाती है। परन्तु पुराणों ने वेदों के महत्त्व को सदा ही न्यूनता से आंकने और उसकी अवगणना करने की चेष्टा की है। यहाँ हम कुछ प्रमाण देकर इस बात को स्पष्ट करना चाहेंगे।

नारदीय पुराण में कहा गया है—

> वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
> वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः।।

अर्थात् वेदों के अर्थ से पुराणों का अर्थ अधिक मान्य होता है। सारे वेद पुराणों में ही प्रतिष्ठित हैं इसमें कोई संशय नहीं है। यहाँ वेदों की तुलना में पुराणों को अधिक प्रामाणिक बताया गया है जो शास्त्रीय परिपाटी के प्रतिकूल होने के कारण किसी भी प्रकार मान्य नहीं हो सकता। स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड में भी वेदनिन्दा के निम्न तीन श्लोक मिलते हैं—

> वेदवन्निश्चलं मन्ये पुराणार्थं द्विजोत्तमाः।
> वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः।।
> बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं चालयिष्यति।
> इतिहासपुराणैस्तु निश्चलोऽयं कृतः पुरा।।
> यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद् दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः।
> उभयोर्यन्न दृष्टं तत् पुराणैः परिगीयते।।

प्रथम श्लोक में कहा गया है कि पुराण का अर्थ भी वेद के तुल्य ही निश्चय है। तथा सारे वेदों को पुराणों में ही प्रतिष्ठित बताया गया है। यहाँ भी पुराणों के प्रशंसक ने घोड़े के आगे गाड़ी जोतने वाली कहावत चरितार्थ की है। शास्त्र प्रमाण के सिद्धान्तानुसार तो वेद के तुल्य अन्य किसी भी स्मृति,

इतिहास, पुराण आदि का प्रमाण मान्य नहीं हो सकता। द्वितीय श्लोक महाभारत के उस प्रसिद्ध श्लोक का रूपान्तर है जिसमें कहा गया है कि इतिहास पुराण से वेदार्थ का उपबृंहण होता है और अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद इस कारण डरता है कि कहीं यह मुझ पर प्रहार न कर बैठे। उक्त श्लोक में कहा गया है कि इतिहास और पुराण से वेदार्थ को दृढ़ किया जाता है। इस कथन में भी आंशिक सत्यता ही है। इतिहास और पुराण वाक्यों की निश्चलता और दृढ़ता उनके वेदानुकूल होने पर आधारित मानी जाय। यह तो हो सकता है कि वेदों में जिन शाश्वत सत्यों का उद्घाटन किया गया है उन्हें इतिहास पुराणों में व्याख्यात किया जाय और उनकी पुष्टि की जाय परन्तु यह कहना कि वेदार्थ को ही इतिहास पुराण द्वारा सुदृढ़ किया जाता है, कदापि मान्य नहीं हो सकता तृतीय श्लोक तो अत्यन्त अपात्तिजनक है जिसमें कहा गया है कि जो वेदों में नहीं है, वह स्मृतियों में है और जो श्रुति और स्मृति दोनों में नहीं है वह पुराणों में विद्यमान है। अब तक तो यह कहा जाता रहा है कि वेद ही अखिल धर्म का मूल है और स्मृतियां तथा सदाचार वेदाज्ञा का ही अनुसरण करते हैं। पितरों, देवताओं तथा मनुष्यों का वेद सनातन चक्षु है जो अशक्य और अप्रमेय है। चातुर्वर्ण्य, तीनों लोक, चारों आश्रम तथा भूत, भविष्य और वर्तमान सभी वेदों से ही प्रसिद्ध होते हैं। साथ ही मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि धर्म जिज्ञासा करने वालों के लिए वेद ही परमप्रमाण है। कुल्लूक भट्ट ने मनु के इस श्लोक की टीका में स्पष्ट रूप से लिख दिया है—'श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः'। अर्थात् श्रुति और स्मृति का अर्थ आदरास्पद नहीं हो सकता। इसी बात को उन्होंने जाबाल, भविष्यपुराण एवं जैमिनि के प्रमाणों से भी पुष्ट किया है। तब स्कन्द पुराण के लेखन का यह कथन पागल के प्रलापवत् ही है कि जो बात वेद में नहीं दिखाई देती वह स्मृतियों में दिखाई पड़ती है और जो दोनों में ही नहीं है वह पुराणों में है। इसके स्थान पर यह कहा जाना चाहिए कि जो व्यवस्था वेद में नहीं है उसके लिए स्मृतियों में भी अवकाश नहीं है और जो स्मृतियों में भी नहीं है वह पुराणों में तो हो ही कैसे सकती है, परन्तु जिन पुराणलेखकों का अभिप्राय ही वेदों और स्मृतियों का विरोध करना और उनके महत्त्व को न्यूनांकित करना हो उनसे ऐसे विपरीत मत की ही आशा की जा सकती है।

यज्ञैर्दानैस्तपोभिस्तु यत्फलं तीर्थमेववा ।
तत्फलं समवाप्नोति पुराणश्रवणान्नरः ।।
वेदेन दृष्टो जगतां हि मार्गः ।
पौराणधर्मो हि सदा वरिष्ठः ।।

ब्रह्मवैवर्त की आलोचना में आगे हम बतायेंगे कि किस प्रकार पुराणों में धर्माचरण के मार्ग को अत्यन्त सस्ता कर दिया है और बाह्य कर्मकाण्ड के आचरण पर ही जोर देकर जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को कम कर दिया गया है। शिवपुराण के इस श्लोक के अनुसार यज्ञ, दान, तप और तीर्थ सेवन से मनुष्य को जो फल प्राप्त होता है वह पुराणों को सुनकर सहज ही प्राप्त किया जा सकता है—

जब पुराण का श्रवण मात्र ही यज्ञदान आदि का फल दे सकता है तो लोग इस सीधे सादे मार्ग को छोड़कर कठिन और परिश्रम साध्य कर्मों का आचरण क्यों करेंगे। पुराण पाठ माहात्म्य के इस प्रकार के श्लोकों का तात्पर्य वेदों और वेदप्रतिपादित यज्ञादि कर्मों की निन्दा करना नहीं तो और क्या है? इसी पुराण में आगे कहा गया है—

वेदों के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से पुराणों का धर्म सदा ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार वेदों की पुराणों से तुलना करना और पुराण प्रतिपादित धर्म को वेदों में उपदिष्ट धर्म से वरिष्ठ बताना वेद निन्दा नहीं तो और क्या है?

यह बात नहीं कि वेदों के सर्वोपरि महत्त्व और उनकी स्वतः प्रामाणिकता की चर्चा पुराणों में न हो। पुराणों में यत्र तत्र वेदों की प्रशंसा और प्रशस्ति भी मिलेगी, परन्तु उसके साथा-साथ उपर्युक्त प्रकार के निन्दात्मक श्लोकों की विद्यमानता में पुराणों के ये कथन परस्पर विरुद्ध होने तथा वदतोव्याघात के दोष से दूषित होने के कारण अप्रामाणिक ही माने जायेंगे। जो लोग पुराणों में पाई जाने वाली इस निन्दा को उपचार मात्र कहकर इस दोष का निराकरण करने की चेष्टा करना चाहते हैं, वे भी अपने श्रम में सफल नहीं हो सकते क्योंकि निन्दात्मक वाक्य इतने स्पष्ट और इतने अधिक हैं कि उनको निर्दोष सिद्ध किया ही नहीं जा सकता। फिर एक मात्र यही उपाय शेष रह जाता है कि हम अद्यतन प्रचलित वेद को स्वतः प्रमाण मानने और अन्यान्य ग्रन्थों को वेदानुकूल होने की स्थिति में ही प्रमाण मानने के मत को स्वीकार करें और वेदों से विरुद्ध तथा उनके निन्दापरक पुराण बचनों को तिरस्कार की दृष्टि से देखें।

प्रो० मैक्समूलर के वेद विषयक विचार

विचार-विमर्श

जीवन और कार्य

पश्चिम में संस्कृत अध्ययन का प्रारम्भ उस समय से माना जाना चाहिए, जबकि एक ब्रिटिश न्यायाधीश सर विलियन जोन्स ने १८ वीं शताब्दी में यूरोपीय जनता को इस महत्त्वपूर्ण भाषा और साहित्य से परिचित कराया। जर्मनी के सर्वाधिक ख्याति प्राप्त विद्वान् मेक्समूलर ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही वेदों के अध्ययन, सम्पादन और प्रकाशन में लगाया। फ्रेडरिक मैक्समूलर का जन्म १८२३ ई० में हुआ। उसने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा लिपजिक नगर में प्राप्त की। बर्लिन में उसकी भेंट फ्रेंज बाप से हुई जो भाषाविज्ञान का प्रसिद्ध विद्वान् था। तत्पश्चात् वह पेरिस चला गया जहाँ उसने सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् बरनफ के साथ कुछ काम किया। राथ और गोल्डस्टुकर उसके समकालीन थे, जो अपनी संस्कृत सम्बन्धी योग्यता के लिए प्रसिद्ध हैं। पेरिस से वह इंगलैंड चला गया और आक्सफोर्ड को उसने अपना कार्यस्थल बनाया। उसने अपने जीवन के शेष पचास वर्ष यहीं रहकर व्यतीत किये।

मैक्समूलर के जीवन का महत्त्वपूर्ण कार्य था ऋग्वेद के सायण भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद सहित ६ जिल्दों में प्रकाशित करना। इसका प्रथम संस्करण १८४९ से १८७३ तक प्रकाशित हुआ और द्वितीय संस्करण १८९०-९२ में ४ जिल्दों में निकला। उसने प्रातिशाख्यों का अनुवाद सहित प्रकाशन १८५६-६९ में किया। 'पूर्व के धर्म ग्रन्थ' (Sacred Books of the East Series) के नाम से उसने जिस पुस्तकमाला का प्रकाशन किया उसके अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ निकले। उसके गिफोर्ड और हिबर्ट व्याख्यान पाँच जिल्दों में छपे तथा फुटकर लेखों का संकलन 'Chips from a German workshop' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद पर परिश्रम करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में मेक्समूलर प्रमुख हैं। उनको किसी प्रकार अवहेलना नहीं की जा सकती।

इससे पूर्व कि हम मेक्समूलर के वेदविषयक विचारों की विस्तृत आलोचना करें, हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि वेदाध्ययन में प्रवृत्त होने की आवश्यकता इन पाश्चात्य बन्धुओं को क्यों हुई ? यों तो वेद के अध्ययन की आवश्यकता और महत्ता उसने ऐसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए बताई है जो मानवता का या अन्य शब्दों में आर्यजाति का अध्ययन करना चाहता है। उसने अपने एक लेख में लिखा है—

I maintain that for a study of man, or if you like for a study of Aryan humanity, there is nothing in the world

equal in importance to the Veda. I maintain that to every body who cares for himself, for his ancestors, for his history or for his intellectual development, a study of Vedic literature is indispensable.

अर्थात् मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि हर व्यक्ति जो अपनी, अपने पूर्वजों की, अपने इतिहास या अपने बौद्धिक विकास की जानकारी प्राप्त करना चाहता है उसके लिए वेद का अध्ययन अपरिहार्य है। परन्तु हमें वेदाध्यन की इस प्रशंसापूर्ण प्रशस्ति से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों के वेदाध्ययन का एक और भी अभिप्राय था। मैक्समूलर ने भी उसका उल्लेख किया है।

ऋग्वेद के जिस सायण भाष्य युक्त संस्करण का मैक्समूलर ने सम्पादन किया था, उसके प्रकाशन की कठिनाई थी। ६००० पृष्ठों के इस बृहत्काय ग्रन्थ को कौन छापेगा ? शायद इसकी १०० प्रतियाँ भी न बिकें अन्त में प्रो० विल्सन के प्रयत्नों से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों ने इसका प्रकाशक बनना स्वीकार कर लिया। जिन शब्दों में कम्पनी ने इसके प्रकाशन का प्रस्ताव स्वीकृत किया उनसे स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ कम्पनी की उस भारतीय प्रजा से सम्बन्धित है जिसके प्राचीन धर्म इतिहास और भाषा पर इस ग्रन्थ से प्रकाश पड़ता है। अतः कम्पनी ने इस ग्रन्थ को संरक्षण देना आवश्यक समझा। इस प्रमाण से पाठकों पर यह स्पष्ट केन्द्रित हो जाएगा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी किस ध्येय से वेद के इस प्रकाशन का महत्त्व दे रही थी। कम्पनी के शासक यह उचित समझते थे कि जिस प्रजा का उन्हें शासन करना है उसके धर्म ग्रंथ का प्रकाशित होना उचित ही है ताकि शासक अपने शासित से भलीभाँति परिचित हो सके, उसके धार्मिक विचारों को जान सके। वेद के अध्ययन और उसके अंग्रेजी संस्वरण के प्रकाशन में साम्राज्यवादी भावनाएँ काम कर रही थीं, यह स्पष्ट हो जाता है।

वेदाध्ययन के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए मैक्समूलर ने एक प्रयोजन यह भी बतलाया है कि इस प्रकार हम अपने (ईसाई) धर्म की महत्ता का और भी अधिक अनुभव करने लगेंगे, क्योंकि जिसने धैर्य तथा ईमानदारी के साथ अन्य धर्मों की परीक्षा नहीं की, वह यह नहीं जान सकता कि ईसाइयत वस्तुतः क्या है ? अपने 'वेद क्या हैं ?' नामक व्याख्यान में उसने यही बात कही—

We shall learn to appriceate better than ever what we have in our own religion. No one who has examined patiently and honestly the other religions of the world, can know what Christianity really is or can join with such truth and sincerity in the words of St. Paul, "I am not ashamed of the Gospel

of Christ." The Vedas by M. Muller P. 42

सिद्ध हुआ कि पाश्चात्यों का वेदाध्ययन निष्पक्ष भाव से नहीं था। वे ईसाइयत की श्रेष्ठता का पूर्वाग्रह रखकर ही वेद के अध्ययन में प्रवृत्त होते थे। मैक्समूलर जैसा उच्चकोटि का विद्वान् भी इसका अपवाद नहीं था। जब वे यह पूर्व निर्धारित धारणा लेकर ही चलते हैं कि ईसाइयत सर्वश्रेष्ठ है और उसकी श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए ही अन्यान्य धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया जाना चाहिए तो इस स्थिति में हम यह कैसे सोच सकते हैं कि पाश्चात्य विद्वान् वेद के साथ न्याय करेंगे। अस्तु।

यह सिद्ध हो गया कि मैक्समूलर जैसे वेदज्ञों का यह अध्ययन किन प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए था। अब हम यह भी देखें कि मैक्समूलर ने जिस प्रणाली को अपने इस अध्ययन में अपनाया, वह भारतीय वेदाध्ययन प्रणाली से कहाँ तक मिलती है। यह बात भी अप्रकट नहीं है कि जबसे पाश्चात्य संसार को संस्कृत भाषा और साहित्य का परिचय मिला तभी तो उन्होंने तुलनात्मक भाषा विज्ञान नामक एक सर्वथा कपोलकल्पित विज्ञान को जन्म दिया है। इस भाषा विज्ञान की विस्तृत आलोचना करने का तो यहाँ कोई प्रसंग नहीं है, परन्तु इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इन भाषा वैज्ञानिकों ने संस्कृत भाषा की प्रचीनता और महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उसका संसार की प्राचीनतम भाषा होने तथा आर्य परिवार की अन्यान्य भाषाओं की जननी होने के दावे को ठुकरा दिया है। मैक्समूलर के ही शब्दों में—

The religion of the Veda is not the source of all the other religions of the Aryan world nor is Sanskrit, the mother of all the Aryan languages. Sanskrit, as compared to Greek and Latin, is an elder sister, not a parent. P. 26

अर्थात् आर्य संसार के अन्य धर्मों का मूल वेद का धर्म नहीं है। और न संस्कृत ही अन्य आर्य भाषाओं की जननी है। ग्रीक और लैटिन की तुलना में संस्कृत उनकी बड़ी बहन हो सकती है, माता नहीं। इन्हीं तथाकथिक भाषा वैज्ञानिकों ने एक कल्पित आदिम भारत यूरोपीय भाषा की कल्पना की है। उनके अनुसार यही भाषा जिसका अब अस्तित्व भी शेष नहीं रहा। संस्कृत ग्रीक, लैटिन आदि सभी आर्य भाषाओं की जननी है। मनचले विद्वान् ने तो इस मनः प्रसूत भाषा के वर्णों की भी कल्पना कर ली, और उसमें एक कहानी भी लिख डाली। अब यदि वंध्यापुत्र, खपुष्प और शशश्रृंग को भी ये लोग साकार रूप दे देने की बात कहें तो क्या आश्चर्य।

वेद के अध्ययन में जिस प्रकार तुलनात्मक पुराण गाथा (Comparative Mythology) को भी इस प्रयोजन में सहायक समझा गया है। एक सीमा तक तो यह कथन सत्य ही समझा जाना चाहिए, कि वैदिक देवता ही कालान्तर में

अन्यान्य देश देशान्तरों की देव माला में नाम और रूप परिवर्तित कर प्रतिष्ठित हुए। वेद का द्यौसपितर, ग्रीक भाषा का Zeus Pater और फिर Jupiter (जुपिटर) बना इसी प्रकार वैदिक शब्द असुर' जेन्दावस्था में 'अहुर' बना, 'सोम' 'होम' और 'मित्र' 'मिथ्र' बना परन्तु इस तथ्य को भी एक सीमा तक ही स्वीकार किया जाना चाहिए। मैक्समूलर और मैकडानल आदि विद्वानों ने इस पुराण गाथा के तुलनात्मक अध्ययन को भी आतिशय की चरम सीमा तक पहुँचा दिया है जो अत्यन्त अनुचित है।

पाश्चात्यों के वेद-विषयक प्रयत्न

आलोचनात्मक अध्ययन

आर्यसमाज के विद्वद्वर्ग का ध्यान अभी पाश्चात्य विद्वानों के वेदविषयक प्रयत्नों की ओर पूर्णतया आकृष्ट नहीं हुआ है। अन्यथा वे इस बात को अनुभव करते कि, आज वेदार्थ के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने जो धारणाएँ बनाई हैं, उन्हीं के आधार पर क्या देश में और क्या विदेश में वेदार्थ सम्बन्धी कार्य हो रहा है। यूरोपीय वैदिक-विद्वान् वेदार्थ के लिये निम्न साधनों का उपयोग करते हैं—

(१) अवेस्ता की भाषा (जो वैदिक भाषा से मिलती है) के साथ वेद की भाषा की तुलना करना और उसके आधार पर वेद-काल के विषय में धारणाएँ बनाना। इस सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर का The Veda and Zenda Avesta नामक लेख द्रष्टव्य है।

(२) तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Comparative Philology)

(३) तुलनात्मक देवता-विज्ञान (Comparative Mythology)

(४) प्राचीनतम मानवों का प्राणिशास्त्र।

(५) ऐतिहासिक पद्धति पर वेदानुशीलन।

जहाँ तक तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रश्न है, इस नवीन परन्तु काल्पनिक शास्त्र का उदय उस समय हुआ जबकि संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का परिचय यूरोपीय विद्वानों को मिला। संस्कृत के अध्ययन से उन्हें यह ज्ञात हुआ कि यूरोप और भारत की प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं में एक अद्भुत साम्य है। ये सब भाषाएँ एक ही परिवार की हैं तथा इनकी जननी एक कोई मूल भारतीय भाषा थी, जो यद्यपि आज अनुपलब्ध है, परन्तु जिसकी वर्णमाला की न केवल कल्पना ही की गई, अपितु एक मनचले भाषा-वैज्ञानिक ने तो उस कृत्रिम वर्णमाला के आधार पर उस तथाकथित आदिम भारोपीय भाषा में एक कहानी भी लिख डाली। इन भाषा वैज्ञानिकों ने संस्कृत के महत्व को स्वीकार तो अवश्य किया, परन्तु उसके इस दावे को अस्वीकृत कर दिया कि संस्कृत

समस्त विश्व की भाषाओं की जननी है । उन्होंने लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं को संस्कृत की भगिनी बताया । भाषाविज्ञान से वेदार्थ में जो सहायता मिलती है, उसकी चर्चा करते हुए मैकडानल ने लिखा है—"Comparative philology not only throws direct light on the origin and meaning of many Vedic words but negative by supplies a check on wild and impossible etymologies." अर्थात् तुलनात्मक भाषाविज्ञान से अधिकांश वैदिक शब्दों की उत्पत्ति तथा अर्थ पर प्रकाश पड़ता है । भाषा-विज्ञान से अधिकांश वैदिक शब्दों की उत्पत्ति तथा अर्थ पर प्रकाश पड़ता है । भाषा-विज्ञान ने अप्रत्यक्ष रूप से असम्भव तथा मूर्खतापूर्ण वैदिक शब्दों की व्युत्पत्तियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया है ।

मैकडानल ने जिसे wild and impossible etymology' कहा है, वहाँ उसका अभिप्राय ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त द्वारा प्रदर्शित वेदार्थ प्रणाली से है । आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने वेदार्थ करने में निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की उपयोगिता बतलाई । उन्होंने वैदिक शब्दों का यौगिक अर्थ करने का प्रतिपादन किया । परन्तु इन यूरोपीय विद्वानों ने इस तथाकथित भाषा-विज्ञान की तुलना में प्राचीन ब्राह्मण और निरुक्त-प्रणाली को नितान्त अनुपयोगी समझा है । जैसा कि मैकडानल के विचारों से स्पष्ट है—"The investigation of the Brhamans has shown that being mainly concerned with specualtion on the nature of sacrifice, they were already far-removed from the spirit of the composers of the Vedic hymns, and contain very little capable of throwing light on the original sense of those hymns." Macdonell's essay on "The Principles to be followed in translation of the Rigveda." अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों की खोज से यह पता चलता है कि उनका विशेष सम्बन्ध यज्ञ-प्रक्रिया से ही है, अतः वेदमन्त्रों के रचयिता ऋषियों के अभिप्राय से वे बहुत दूर चले गए हैं तथा वेदमन्त्रों के वास्तविक अर्थ को प्रकट करने में वस्तुतः अक्षम हैं ।

जिस प्रकार वेदार्थ को समझने में इन विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों का अवमूल्यन किया उसी प्रकार निरुक्त का । निरुक्त को वेदार्थ का रहस्य समझाने में असमर्थ मानते हुए मैकडानल ने अपने A History of Sanskrit Literature में लिखा है—"He (Yaska) often gives two or more alternative or optional senses to the same word. The fact that he offers a choice of meaning shows he had no earlier authority for his guide and his renderings are simply conjectural; for no one can suppose that the authors of the hymns had more than

one meaning in their minds." P. 6. अर्थात् यास्क एक ही शब्द के दो वैकल्पिक अर्थ बतलाता है। उसका इस प्रकार एक से अधिक अर्थ प्रस्तुत करना यह बताता है कि उसे अपने मार्गदर्शन के लिए कोई पूर्ववर्ती प्रामाणिक सामग्री नहीं मिली थी, उसके अर्थ स्पष्ट ही अनुमान साध्य हैं क्योंकि हम यह नहीं समझ सकते कि वेद मन्त्रों के रचयिताओं के मस्तिष्क में इन मन्त्रों का एक से अधिक अर्थ विद्यमान था।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूरोपीय विद्वानों ने पुरातन-वेदार्थ प्रणाली की किस प्रकार अवहेलना की है तथा उसके स्थान पर स्वनिर्मित मानदण्डों का प्रयोग किया है। तुलनात्मक देवता-विज्ञान के आधार पर प्रो० मैकडानल ने अपने Vedic Mythology नामक ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें अन्यान्य देशों में प्रचलित देवमाला की वैदिक देवताओं से तुलना करने के अनन्तर कुछ विचित्र निष्कर्ष निकाले गए हैं। इस प्रकार यूरोपियन विद्वानों द्वारा प्रयुक्त वेदार्थ के सहायक इन साधनों का परिचय प्राप्त करने के अनन्तर हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता ह कि हम बलपूर्वक इस यूरोपीय वेदार्थ-पद्धति की व्यर्थता तथा अनुपादयेता को सिद्ध कर दें। जब तक हम यह नही करेंगे तब तक केवल इस प्रणाली को कोसने (कई आर्य पण्डित Mythology को मिथ्यालोजी कहते हैं) से ही काम नहीं चलेगा और न हम अपने दृष्टिकोण को ही पूर्णतया मान्य करा सकेंगे।

यही बात उस तथाकथित मूल भारोपीय भाषा के विषय में भी कही जा सकती है। प्रो० देवप्रकाश के शब्दों में "आर्यसमाज का वेद-भाष्य तभी मान्यता प्राप्त कर सकता है, जब वेद की भाषा मौलिक भाषा सिद्ध हो अर्थात् केवल यूरोपीय परिवार की भाषाएँ ही नहीं, बल्कि संसार की भाषाएँ वैदिक भाषा से निकलीं, यह सिद्ध किया जाय, तब नम्बर आता है, यह कहने का कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है।" (टं० प० दिसम्बर १९५९) तथा "जब तक अनुसंधान के बल पर Indo European Language को, जिसका दावा है कि वैदिक भाषा यूरोपीय भाषा की लड़की की लड़की है नहीं तोड़ा जायगा, तब तक इन दोनों विषयों पर बात करने लायक भी हम लोग नहीं हैं।" टं० प० व० १। अ० ४॥

यह वह महत्वपूर्ण काम है जिसे आज आर्य विद्वानों को करना है। केवल वेदों की दुहाई देने से ही काम नहीं चलेगा, अपितु यह देखना पड़ेगा कि संसार के विभिन्न देशों के विद्वानों ने वेदार्थ के विषय में क्या-क्या प्रयत्न किये हैं तथा उनकी असमीचीनताओं को परखते हुए महर्षि दयानन्द प्रतिपादित वेदार्थ शैली की महत्ता स्थापित करनी होगी।

□□□

मुद्रक : विजय कम्पोजिंग ऐजन्सी द्वारा भाटिया प्रेस, गाँधीनगर दिल्ली-३१